Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संपादक
यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 21, अंक 2
जुलाई, 2007

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 21 अंक 2 जुलाई, 2007

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध–सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. दयाकृष्ण, चौथी मंज़िल, एच.डी.एफ.सी. एन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. अशोक वाजपेयी, सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725
3. अम्बिकादत्त शर्मा, बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 100/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोज़िंग तथा के. बी. एस. प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. मानव सत्ता और ज्ञान–विमर्श – (1) — गोविन्दचन्द्र पांडे — 109

2. क्या है?, क्या नहीं है? – एक बातचीत : दूसरी बैठक — मुकुन्द लाठ — 139

3. चित् की आत्मगवेषणा–2 — यशदेव शल्य — 187

4. लक्षण और उसकी विधायें — नारायण शास्त्री द्राविड़ — 201

5. 'भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद' की समीक्षा पर कुछ स्पष्टीकरण — सच्चिदानंद मिश्र — 213

पुस्तक–समीक्षा

1. चेतना मूल्य संस्कृति (कांश्यसनेस वेल्यू कल्चर) ले. गोविन्दचन्द्र पाण्डे — राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय — 219

2. बौद्ध प्रमाण–दर्शन ले. अंबिकादत्त शर्मा — नारायण शास्त्री द्राविड़ — 227

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानव सत्ता : ज्ञान विमर्श (१)

गोविन्द चन्द्र पांडे

प्रवृत्तिं मन्वते केचिद् ज्ञानं जैवीं सयुक्तिकाम्।
सृष्टो दीर्घविकासेन देहः स्वायत्तयन्त्रवत्।। १।।
न त्वेतं युज्यते यस्माद् न बोधो भौतिकः क्वचित्।
भातेरस्तेर्विभेदेन जडस्यान्यप्रकाशनात्।। २।।
चेतनस्यैव विज्ञानं वृत्त्या वेद्यप्रकाशनात्।
विषयी विषयश्चैव ज्योतिस्तमसी यथा।। ३।।
कथं देहसितं ज्ञानं दृश्याभिन्नावभासि च।
युज्यते भवितुं भिन्नं स्वतन्त्रं चापि तद् यदि।। ४।।
स्वप्रकाशाप्रमेयायाश्चितोऽध्यासबलादिह।
दृश्यान्वयकं ज्ञानं मिथ्यामिथ्येव भासते।। ५।।
विषयी विषयोबोधो ज्ञानस्यांशा त्रयः स्फुटाः।
इदमित्थमिति नूनं विषय प्रतिरूपणम्।। ६।।
सर्वप्रमातृ विषयः शब्दसंकेत गोचरः।
बोधः प्रत्ययसन्तानः परस्यागोचरोपि यः।। ७।।
बोध साक्षी तु विषयी नित्योऽहंप्रत्ययी तथा।
प्रथमाँशोधुना सिद्ध इतरौ समुपेक्षितौ।। ८।।

ज्ञान को जीववैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक जैविक व्यवहार मात्र मानते हैं और संगणकीय पुतलों में उसका प्रतिदर्श देखते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि जड़ विषय और ज्ञान अत्यन्त भिन्न-स्वरूप हैं। ज्ञान चेतन विषयी की विषयाकार-निरूपक बोध-वृत्ति है। अध्यास के कारण जड़ और चेतन विषय और विषयी अविविक्त प्रतीत होते हैं। देहि प्रमाता जैविक समीहा से प्रेरित होकर बाहरी विषयों के अनुसन्धान में जिस युक्ति-मत्ता और प्रत्यक्ष सत्यापन-विधि का अनुसरण करता है उसे ज्ञान का सूत्र मान कर भूत-भौतिक जगत् का विज्ञान प्रकर्ष को प्राप्त कर रहा है, किन्तु इस अनुसन्धान में ज्ञान-व्यवहारक आधारभूत बोधमयी सत्ता अज्ञातवत् बनी रहती है।

पिछले लेखों में प्राकृत-सत्ता के विमर्श के प्रसंग में यह बात सामने आयी थी कि परसंवेद्य, सापेक्ष धर्मों से लक्षित एवं नियमवर्ती होने के कारण वह एक गहरे अर्थ में ज्ञान की अपेक्षा रखती है। प्रकृति मात्र ज्ञान के विषय-विश्व के अन्तर्भूत है। ज्ञान चेतना का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक प्रकार्य है और सामान्यतया चेतना का अधिष्ठान प्राणियों में होता है, और प्राणियों में सर्वाधिक विकास मनुष्य में देखा जाता है। भौतिकवादी कल्पना के विरुद्ध हमने पिछले लेख में इस बात का प्रतिपादन किया था कि चेतना का प्राकृत सत्ता में विलयन नहीं किया जा सकता। इसी कारण मानव-सत्ता को भी स्वरूपत: प्राकृत नहीं कहा जा सकता।

चेतना के अनेक आयाम हैं जिनमें ज्ञान की महिमा बखानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान के दो प्रकार सुविदित हैं—सत्य और मिथ्या। जैसा कि किसी विषय का ज्ञान अनायास प्रस्तुत होता है तो उसे प्रतीति के रूप में विचार के बिना सत्य अथवा असत्य नहीं कहा जा सकता। इस अनिर्धारित प्रतीति को बहुत से विचारक प्रतीयमान् सत्य का नाम देते हैं। वस्तुत: प्रतीयमानता और सत्य दो भिन्न कोटियाँ हैं, जिन्हें प्रतीति-सत् और वस्तु-सत् या परमार्थ-सत् कह सकते हैं। ऐन्द्रिय संवेदनजन्य प्रतीति को प्रतिभास भी कहा गया है। अविचारित संवेदनों अथवा विकल्पों को सामान्यतया प्रतीति या आभास भी कहा जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान प्रतीति या आभास से आरम्भ होकर सत्य अथवा मिथ्या निर्णयों तक विस्तृत रहता है और उसके समानान्तर है प्रतीयमान् विश्व एवं वास्तविक विश्व का भेद। प्रतीति एवं प्रतीयमान् विश्व से ही ज्ञान का विचार आरम्भ होता है।

केवल प्रतीति के रूप में ज्ञान चेतन प्राणी की एक विशेषता मात्र है। इस प्रकार की प्रतीति प्राणिमात्र में रहती है और उसके असंख्य भेद हैं। प्रतीति विषय की सत्यज्ञापक होने के कारण ही महत्त्वपूर्ण होती है। सत्य होने पर वह प्राणि के लिए उपयोगी होती है और विशुद्ध जिज्ञासा का भी समाधान करती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जैसे ज्ञान सत्य होने पर उपकारी होता है, वैसे ही असत्य होने पर अनर्थ का कारण बनता है। सत्य ज्ञान भी सब एक-सा नहीं होता, विषय-भेद से वह भिन्न होता है। वह विषय के तत्त्व में कितनी गहराई से पैठता है, इससे उसका सत्य भी व्यापकता, सूक्ष्मता आदि धर्मों से विशेषित होता है—

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।
विषयाश्च महाभाग यान्ति चैवं पृथक्-पृथक्।।

ज्ञान सभी प्राणियों में रहता है, किन्तु उसके विषय अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार का प्राणि-निष्ठ जैविक ज्ञान सहज प्रवृत्तिजनित अथवा समीहा-प्रयुक्त होता है—

तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते ... समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोतिजहाति वा ... प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येय: प्राणभृद्भेदस्याऽपरिसंख्येयत्वात्।।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह जीवनोपयोगी होते हुए जिजीविषा और आसक्ति के साथ जुड़ा रहता है। वह प्राणि को विश्व के एक-देश का ऐसा परिचय देता है जो उसकी सफल प्रवृत्ति में सहायक हो। इस प्रकार का ज्ञान न तो तटस्थ निरूपण होता है, न वह अनासक्त भाव से मुक्ति का उपकारी।

ऊपर कहा गया था, और यह बात प्राचीन काल से यथार्थवादी न्यायविद् कहते हैं कि, सत्य ज्ञान वह है जिसका विषय सत्य है। किन्तु सत्य की यह परिभाषा सत्य को निम्नतम सपाट रूप से परिभाषित करती है। जैसा हेगेल ने कहा था— 'दीवार हरी है' इस वाक्य में प्रतिपादित ज्ञान आगन्तुक विषयक होने के कारण तुच्छ है, जबकि 'स्वर्ण एक धातु है', इस वाक्य में प्रतिपादित ज्ञान तत्त्व की अवतारणा करता है। किन्तु तत्त्व इकहरा, सपाट धर्म नहीं है, उसकी एक गहराती और ऊपर उठती श्रेणी है जिसकी सीमा आत्मज्ञान ही है। साँविदनिक ज्ञान से विशुद्ध आत्मज्ञान तक सत्य का दीर्घ सोपान है।

यद्यपि ज्ञान की सत्यता को पहचानने की अनेक कसौटियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, जैसे अविसंवादकता, अबाधितता, प्रमाण-सम्मितता, तो भी उसका स्वरूप यथार्थता ही हो सकता है। किसी ज्ञान को सत्य कहने से हमारा यही तात्पर्य होता है कि ज्ञान का विषय या प्रतिपाद्य अर्थ वास्तविक है। विषय की वास्तविकता क्या है? इसका विश्लेषण आवश्यक है। ज्ञान के दो सुविदित प्रकार हैं— जिनके न विषय एक से होते हैं न उन विषयों की निर्देश्य वस्तुएँ। 'लाल रंग' के संवेदन में सम्वेद्य विषय रूप और रंग ही होते हैं। ये रूप-रंग सघन संवेदनात्मक अनुभव से क्या अलग किये जा सकते हैं? क्या रंग का जो पता कैमरे और स्पैक्ट्रोग्राफ से चलता है वह अनुभूतिगोचर रूप-रंग से भिन्न होता है? रूप-रंग को अनुभूति से पृथक् मानने पर भी उसमें संवेदन की सापेक्षता तो बनी रहती ही है। वही रूप-रंग सब प्रेक्षकों को ठीक वैसा नहीं दीखता। दूसरी ओर जो दीखता है उसका आलोक-तरंगात्मक तत्त्व इन्द्रियमात्र गोचर न होकर उपकरणों और अनुमान की सहायता से विकल्पित होता है। इन्द्रिय-विकारात्मक संवेदन, प्रत्यक्ष संवेदन-ग्राह्य विषय और अनुमान-विकल्पित- धर्मी वस्तु या द्रव्य, ये तीनों सम्बद्ध पर विविक्त अस्तित्वशाली धर्म प्रतीत होते हैं।

जो सरलतम कल्पना है और जो इस समय विज्ञानसम्मत है, उसके अनुसार भौतिक पदार्थ ही वास्तविक हैं और यही भौतिक वास्तविकता बाह्य विषय एवं इन्द्रियों के रूप में विभक्त है। इन दोनों के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान भी जैविक व्यवहार का एक प्रकार होने से भौतिकता का अतिक्रमण नहीं करता। स्नायुवैज्ञानिक नाड़ियों, उनमें प्रवाहित वैद्युत-रासायनिक परिवर्तन, मस्तिष्क की रचना और देह के आन्तरिक एवं बाह्य अवयवों में क्रियाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पाता। इस क्रिया-तन्त्र का आरम्भ ऐन्द्रिय द्वार पर भौतिक ऊर्जा की तरंगों के अभिघात से होता है और इसका अन्तिम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिणाम मस्तिष्क में भौतिक संस्कार बनने, उद्‌भूत होने के बाद इन्द्रियों में प्रतिक्रियात्मक हलचल के रूप में होता है। प्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिक पावलोव ने प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया था कि ऐन्द्रिय अभिघात और प्रतिक्रिया का क्रम संस्कार द्वारा नियत हो जाता है। इस प्रकार की संस्कार-नियत प्रतिक्रियाएँ (कण्डीशंड रीफ्लेक्स) ही ज्ञानीय व्यवहार की रचना करती हैं। 'दूध को देखकर कुत्ते की जीभ लपलपाती है', 'दूध के साथ बहुत बार बजी हुई घंटी के दूध के अभाव में बजने पर भी उसकी जीभ लपलपाती है'। ऐसे ही गाय के प्रत्यक्ष के साथ 'गाय' शब्द का बार-बर प्रत्यक्ष होने पर गाय के अभाव में भी गाय शब्द को सुनने पर गाय का मानसिक चित्र और गाय के अनुकूल व्यवहार की ऐन्द्रिय उन्मुखता तात्कालिक रूप से प्रकट होती है। समस्त ज्ञान इसी प्रकार का जैविक व्यवहार है जो कि भौतिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में विश्लेषणीय है। भौतिक विषय के अभिघात से जन्य मस्तिष्कीय संस्कार कार्य के रूप में अपने कारण से नियत सम्बन्ध रखता है। ज्ञान की यह स्वजनक नियतता ही उसकी सत्यता है। जब नाड़ी-तन्त्र के दोष के कारण अथवा मस्तिष्कीय स्मृति-संस्कार की अव्यवस्था के कारण, अथवा सह-जनित अथवा सदृश संस्कारों के अविवेक के कारण, अथवा न्यूनाधिक रूप में स्वतन्त्र मस्तिष्क की क्रिया या कल्पना के कारण ज्ञानोत्पत्ति के समय अथवा उसके मानसिक या शाब्दिक प्रतिपादन के समय पूर्वोक्त यथावत् नहीं रहती है तो वह असत्य ज्ञान की दशा होती है। इस प्रकार के असत्य ज्ञान का परिणाम ज्ञानमूलक क्रिया की असामर्थ्य अथवा विसंवादकता होता है।

मनुष्य के स्थान पर यदि संगणक से निर्देशित एक यान्त्रिक पुतले को खड़ा कर दिया जाए तो वह भी प्रकाश-रश्मियों, ताप, स्पर्श आदि के अभिघातों को ग्रहण कर एक सीमा तक मनुष्यवत् व्यवहार कर सकता है। संगणक की सहायता से बहुत से बौद्धिक कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं। यह संगणकीय यन्त्र के ज्ञानीय व्यवहार का प्रतिदर्श है। ज्ञानीय मनोविज्ञान (काग्नीटिव साइकोलोजी) के विशेषज्ञ और संगणक-विज्ञान के विशेषज्ञ यह दावा भी करते हैं कि वे सभी मानव-व्यवहारों में समर्थ पुतला बना सकेंगे। यह दावा अभी चरितार्थ नहीं हुआ है और उसकी सम्भावना पर भी विशेषज्ञ एकमत नहीं हैं। सबसे बड़ी आपत्ति इस सन्दर्भ में यह है कि संगणक में न तो बोध होता है, न ऐसे किसी बौद्धिक कार्य की क्षमता जिसको करने की विधि अनपद क्रम (अल्गोरिद्म) से निर्धारित न की जा सके, और न संगणक ऐसी अप्रत्याशित समस्या का हल कर सकता है जो उसकी कार्य-योजना (प्रोग्रेमिंग) के अन्तर्गत न हो।

इनमें बहुत सी बातों का मूल्यांकन विशेषज्ञों के एकमत न होने के कारण सम्भव नहीं है, क्योंकि विज्ञान की प्रगति की दिशा अथवा मर्यादा पहले से पता नहीं चल सकती। उसके सन्दिग्ध और विवादास्पद वर्तमान दावों का उसके युक्ति-सन्दर्भ में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल्यांकन भी सम्भव नहीं। किन्तु बात वस्तुत: वैज्ञानिकों के दावों की नहीं है। हमारे लिए जो बात महत्त्वपूर्ण है वह तात्त्विक है और उसका विज्ञान के विकास की उपलब्धियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। भौतिकवाद एक चिरन्तन दार्शनिक दृष्टि है। वह न विज्ञान से सिद्ध होती है, न विज्ञान के लिए आवश्यक है। भौतिकवाद में जो मान्यताएँ हैं उन्हीं पर विचार करना हमारे लिए आवश्यक है। क्या बोध के बिना ज्ञान सम्भव है? क्या बोध का भौतिक परिवर्तनों में विलयन किया जा सकता है? 'कैमरा चित्र खीचता है, किन्तु उसे चित्र का बोध नहीं होता।' आँखों की सहायता से मस्तिष्क में भी चित्र के समानान्तर सन्निवेश प्रत्युपस्थित होता है, किन्तु सजीव प्राणी के अविकृत मस्तिष्क में उस विषयाकार का बोध भी होता है। इन्द्रियों में विषय-संयोग से आकार उत्पन्न होते हैं, किन्तु इन आकारों का बोध हुए बिना इसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता। कम्प्यूटर शतरंज खेलता है, वह नियमों के अनुसार लक्ष्य के अनुकूल चाल चलता है। यह सब वह प्रोग्रामिंग के अनुसार करता है, जैसे कोई बच्चा सीखी हुई भाषा का प्रयोग यथानियत रूप में करता है। किन्तु कम्प्यूटर को बोध नहीं होता, इसलिए उसमें ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

जो सब विषय प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं, (और सभी भौतिक विषय स्वरूपत: प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं) उनमें बोध कहीं भी नहीं मिलता। बोध देखा-सुना नहीं जा सकता। शरीर-वैज्ञानिक, चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक, नाड़ी वैज्ञानिक मानव-देह की अन्दर-बाहर सभी तरह की प्रत्यक्ष परीक्षा करते हैं, किन्तु बोध का प्रत्यक्ष नहीं करते। तो क्या वे बोध को भ्रान्ति मानकर अलग कर सकते हैं? यान्त्रिक पुतले में प्राणवत्ता का भ्रम हो सकता है, किन्तु भ्रम भी बोध का एक प्रकार है। बोध अपने विषय में भ्रान्त हो सकता है किन्तु भ्रान्त होकर भी वह अपने अस्तित्व को नहीं झुठला सकता। बोध के विषयों को प्रमाणित करने के लिए उनका बोध पूर्वापेक्षित होता है, किन्तु बोध को प्रमाणित करने के लिए बोध का होना ही पर्याप्त है। दूसरे शब्दों में, बोध एकमात्र स्वप्रकाश पदार्थ है।

ऐसी स्थिति में स्वत: प्रश्न उठता है कि कुछ दार्शनिक बोध की स्वत:प्रकाशता अथवा पृथक् अस्तित्व को क्यों अस्वीकार करते हैं? उनके मत से बोध सविषयक ही हो सकता है। जहाँ कहीं भी बोध उपलब्ध होता है वह सविषयक ही होता है, निर्विषयक बोध की बात स्वत:विरुद्ध कथन है। बोध अपने से भिन्न विषय का प्रकाशक होता है। यदि वह स्वविषयक होगा तो उसे अपने से भिन्न प्रकाशक की आवश्यकता होगी। अत: न विर्विषय़क बोध सम्भव है न स्वविषयक, न वह स्वत:प्रकाश हो सकता है। अतएव या तो 'बोध' शब्द निरर्थक है अथवा वह स्मृत्यात्मक अथवा प्रत्यवेक्षात्मक दूसरे बोध का विषय हो सकता है। इस दूसरे बोध का विषय शुद्ध बोध न होकर विषय-विशेष से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपरक्त बोध होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि हमें नाना विषयों का बोध होता है, क्योंकि ऐसा सन्देह स्वयं बोध का प्रकार होने के कारण एक असम्भव आत्मव्याघाती प्रयास होगा, किन्तु जहाँ यह निर्विवाद है कि बोध अपने विषय को प्रदर्शित करता है वहाँ यह विवादास्पद है कि वह अपने को प्रदर्शित करता है कि नहीं। यदि बोध विषय को प्रकाशित करते हुए अपने को प्रकाशित करता ही नहीं तो विषय की ही प्रकाशित और अप्रकाशित अवस्थाएँ माननी होंगी। इन अवस्थाओं के भेद की प्रतीति में बोध की प्रतीति भी किसी न किसी प्रकार माननी होगी, जैसे प्रकाश स्वयं नहीं दीखता किन्तु रूप-रंग को प्रकाशित करता है। रूप-रंग के प्रकाशित होने में ही क्या उनकी प्रकाशमानता के साथ प्रकाश का पता नहीं चलता? बोध के नाना विषय होते हैं, एक विषय में नाना गुण और अवस्थाओं का भी पता चलता है, किन्तु विषयों के इस प्रकार भिन्न होते हुए भी उनमें बोध अभिन्न रूप से अन्वित रहता है। इस प्रकार विषयों में ज्ञात और अज्ञात का भेद तथा नाना ज्ञात विषयों का भेद विषयों के अतिरिक्त एक अभिन्न स्वप्रकाश बोध अथवा ज्ञान का अस्तित्व सूचित करता है।

सच तो यह है कि पूर्वाग्रही दार्शनिकों के अतिरिक्त किसी को भी इस बात का संशय नहीं होता कि उसे बोध अथवा ज्ञान है। मनुष्य का सारा व्यवहार अपने और दूसरे में बोधवत्ता या ज्ञानवत्ता मानकर ही प्रवृत्त होता है। यदि यह व्यवहार का मूलभूत सर्वमान्य तत्त्व छोड़ दिया जाये और सब मनुष्य अपने को और दूसरे को बोध-रहित पुतले मानने लगें तो नैतिक-सामाजिक मर्यादाएँ समाप्त हो जाएँ। पुतले को नष्ट करने के लिए वध का दण्ड नहीं होता, मनुष्य के वध के लिए होता है। जैसे उन सब समाजों में जहाँ पशुओं में जीव नहीं माना जाता पशु-वध को पाप नहीं माना जाता। पुतले और मानव दोनों की अनेक सम्भाव्य समानताओं के साथ एक मौलिक असमानता सर्वस्वीकृत है।

यहाँ पर यह आपत्ति की जा सकती है कि ये दोष यान्त्रिक भौतिकवाद के हैं न कि द्वंद्वात्मक या विकासात्मक भैतिकवाद के। द्वंद्वात्मक या विकासात्मक भौतिकवाद एक मौलिक असत्कार्यवाद में विश्वास रखता है जिसे नव्योत्क्रांतात्मक विकास कहा जाता है। भौतिक कारणों का कार्य होते हुए भी मनुष्य एक विलक्षण नवीन रचना है जो कि सुदीर्घ जैविक विकास पर निर्भर होने के कारण सामान्य यान्त्रिक अर्थ में कृत्रिम नहीं मानी जा सकती। प्रकृति के द्वारा लाखों वर्षों में उत्पादित इस अद्‌भुत कृति को समुचित सम्मान देना ही मानवतावाद है और इस प्रकार का मानवतावाद नैतिक-सामाजिक जीवन को आधार प्रदान करता हुआ उसकी विकृतियों को भी समझ सकता है।

इस मत में भौतिक विकास के रूप में कारण से सर्वथा असजातीय कार्य को उत्पन्न माना जाता है। भौतिक परिवर्तनों से रासायनिक कार्य की उत्पत्ति में नवीनता होते हुए भी अत्यन्त विजातीयता नहीं होती। अवयवी में समवायी कारण के रूप में अवयव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विद्यमान रहते हैं किन्तु रासायनिक कारणों से जैविक कार्य की उत्पत्ति में एक अत्यन्त विजातीय परिणाम प्रकट होता है। संचलन अथवा गुणान्तर परिणाम के अतिरिक्त अब जो प्रयोजनवत्ता प्राणि-व्यवहार में उपलब्ध होती है वह किसी प्रकार से बोध को त्याग कर नहीं समझी जा सकती। भौतिक परिवर्तनों से अभौतिक बोध की उत्पत्ति कार्य-कारण भाव के मूलभूत सजातीयता के नियम का उल्लंघन करती है। यही नहीं, मनुष्य के स्वगत अथवा परगत बोध में जो नैतिकता का सूत्र मिलता है वह किसी कार्य-करण-विचार पर निर्भर नहीं करता। वह साक्षात् स्वानुभूति और परानुभूति पर निर्भर करता है।

निष्कर्ष यह है कि बोध को भौतिक द्रव्य, गुण, क्रिया अथवा सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। भौतिक द्रव्य देश-काल में अवस्थित और स्वरूपत: ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय होता है। यह बात बोध के विषय में नहीं कही जा सकती। देह और मस्तिष्क की परीक्षा करने पर हम बोध का पता या तो व्यवहार के प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान से लगाते हैं अथवा देही के अपने वचनों से। जैसा ऊपर कहा गया है, व्यवहार में सभी को स्वगत बोध का अपरोक्ष रूप से पता चलता है और परगत बोध का तात्कालिक अनुमान से। यह अनुमान भी इसीलिए सम्भव है कि कहीं बोध अपरोक्ष होता है। जिसमें विषय का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बोध नहीं होता अनुमान उस विषय के स्वरूप से परिभाषित रूप में बोध का पता नहीं कर सकता। इस तरह की अविज्ञात वस्तुओं का अनुमान सिर्फ कारणत: अथवा सम्बन्ध से अविच्छिन्न विषय के रूप में होता है। सर्वथा अज्ञात होने पर बोध या चेतना का व्यवहार से पता एक कारण मात्र के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु उस कारण को भी विदित भौतिक कारणों में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। सोडियम-पेन्थॉल देने पर चेतना लुप्त हो जाती है, सुषुप्ति में निमग्न मनुष्य झकझोरने पर चेतन हो जाता है। भूख की कमज़ोरी से बेहोश होने पर मनुष्य को ग्लूकोज़ देने पर वह होश में आ जाता है। इस प्रकार के कारणों के ज्ञान से चैतन्य का स्वरूप पता नहीं चलता, क्योंकि ये कारण जिन रासायनिक प्रक्रियाओं को जन्म देते हैं वे प्रत्यक्ष की जा सकती हैं, किन्तु वे क्रियाएँ चेतन नहीं होतीं। अत: प्रत्यक्ष-योग्यता के अभाव में बोध या चेतना भौतिक नहीं कहे जा सकते किन्तु तब भी यह विकल्प शेष रहता है कि वह चेतना भौतिक कारणों से उत्पन्न भौतिक अवस्थाओं और क्रियाओं से अविलग एक विषय है।

'अपना नाम पुकारे जाने पर छात्र उत्तर देता है', 'पास में दंगे की ख़बर सुनकर मनुष्य जल्दी से उस स्थान से हटने का उपक्रम करता है', 'ज़ोर की डाँट सुनकर बच्चा रोने लगता है', इस प्रकार के उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि शारीरिक अवस्थाओं और क्रियाओं के साथ उपजती और नष्ट होती बोध-वृत्तियों का उनसे तादात्म्य है। जैसे आन्दोलित तार से ध्वनि उत्पन्न होती है ऐसे ही मनुष्यों में ज्ञान-व्यवहार प्रकट होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किन्तु इस प्रकार की कल्पना जड़ विषय और चेतन विषयी के मौलिक अन्तर को भूल जाती है। दूसरी ओर जीववैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक कार्य-कारण भाव को ही उलट देते हैं। चेतन होने पर प्राणी एषणाओं की पूर्ति के लिए प्रयास करता है, देह में परिवर्तनों के रूप में अन्न का आहरण और निरहरण उसके चेतन होने का ही परिणाम है। 'भय होने पर मनुष्य भागता है', 'मैं पुकारा जा रहा हूँ', यह बोध होने पर वह उत्तर देता है। मानव-देह में चेतना व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में रहती है। सुषुप्ति और मूर्च्छा में मानसिक बोध न रहते हुए भी अव्यक्त दैहिक बोध रहता है जो कि प्राण की क्रियाओं का आधार है। मूर्च्छा और सुषुप्ति की अवस्था में विषय-बोध के अभाव का और एकसमान अन्धकार का अबोधप्राय बोध मिलता है, जिसके कारण सुषुप्ति या मूर्च्छा से उठने पर मनुष्य को यह ज्ञान रहता है कि वह सोया या मूर्च्छित हुआ था। जहाँ तक सर्वथा स्मृति-लोप की अवस्था की बात है, वह मृत्यु के समान बोध के आधारभूत मस्तिष्क के विघटन की अवस्था दिखलाती है। ऐसे ही तात्कालिक ऐन्द्रिय बोध में विषय का विवेचन नहीं होता। मानसिक बोध में संकल्प-विकल्प रहता है किन्तु युक्तिपूर्वक तात्त्विक निर्णय आवश्यक रूप से नहीं होता। बौद्धिक ज्ञान में तात्त्विक निश्चय रहता है किन्तु वह युक्ति-सापेक्ष होने के कारण ऐकान्तिक नहीं होता। प्रातिभ ज्ञान में युक्ति-निरपेक्ष तत्काल तत्त्व का स्फुट साक्षात्कार होता है। आत्मज्ञान में विषयाकारों का ज्ञान न होते हुए भी असन्दिग्ध ज्ञान होता है। यह ज्ञान का श्रेणीकरण इस समय प्रसिद्धि के अनुसार उपलक्षण के रूप में किया जा रहा है। इसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि बोध का न तो निषेध किया जा सकता है न उसको प्रत्यक्ष विषय के रूप में देखा जा सकता है, तो भी उसका स्वरूप अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।

ऊपर ज्ञान के दो आधारभूत प्रकारों का उल्लेख किया गया था—सत्य ज्ञान और मिथ्या ज्ञान। इस पर विचार करने के पहले इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत हुआ था कि क्या ज्ञान का कोई स्वतन्त्र अभौतिक अस्तित्व है? क्योंकि यदि वह नहीं है तो ज्ञान की सत्यता का प्रश्न उसके कारणों और परिणामों के विवेचन में पूरा होगा। हमने यह देखा कि यद्यपि ज्ञान को भौतिक कारणों से स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता किन्तु उसका भौतिक पदार्थों में समावेश भी नहीं किया जा सकता। वस्तुत: ज्ञान की उत्पत्ति में कारण-व्यापार एक प्रकार का नहीं होता। एक ओर देहतन्त्र के परिवर्तन ज्ञान की उत्पत्ति के सहकारी कारण के रूप में रहते हैं, दूसरी ओर देह-तन्त्र से सम्पर्क में आने वाली भौतिक वस्तु भी ज्ञानोत्पत्ति में सहकारी होती है। रंगीन द्रव्य और आँख का संयोग होने पर जो चाक्षुष नाड़ी में परिवर्तनधारा उत्पन्न होती है और उससे जो मस्तिष्क-केन्द्र में परिवर्तन होते हैं वे सब चक्षुर्विज्ञान के आवश्यक कारण होते हुए भी पर्याप्त कारण नहीं हैं। इन्हें चक्षुर्विज्ञान के उत्पादक मौलिक कारण के सहकारी कारण कहा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्रष्टा को रंग की प्रतीति होती है, यह ज्ञान की मुख्य उत्पत्ति-रूप घटना है। इसमें द्रष्टा और दृश्य का अपरोक्ष सम्बन्ध ही मुख्य कारण है। प्रकारान्तर से द्रष्टा का दृश्य स्वप्रकाश-तादात्म्य कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध का एक ध्रुव द्रष्टा, दूसरा दृश्य या आलम्बन और तीसरा दृश्याकार की द्रष्टा के लिए अपरोक्षता है। ये तीनों अंश ज्ञान के अन्तर्गत हैं इसलिए यह आपत्ति हो सकती है कि इन्हें ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कारण को कार्य से भिन्न और पूर्ववर्ती होना चाहिए। किन्तु यह नियम ज्ञान की कारणता में लागू करने पर ज्ञान को अपने से भिन्न ज्ञान-रहित कारणों का कार्य मानना होगा। ज्ञान के बाहर द्रष्टा क्या है? और ज्ञान के बाहर उसका आलम्बन, आकार या दृश्य क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। एक ओर रूप में चाक्षुष विज्ञान का द्रष्टा, देह, इन्द्रिय और मन का अभिमानी मानव-प्रमाता है तो दूसरी ओर चक्षुर्विज्ञान में अन्तर्व्याप्त स्वप्रकाश विषयी है। ऐसे ही चाक्षुष विज्ञान का आलम्बनभूत आकार उससे बहिर्वत् प्रतीत होने पर भी उसकी अन्तर्वस्तु के रूप में रहता है। इसके साथ ही यह ज्ञान की आन्तरिक विषय-वस्तु ज्ञान के बाहर उसकी नियामक वस्तु को सूचित करती है। यदि यह बाह्य वस्तु, जो ज्ञान की इन्द्रिय-संयोग के द्वारा नियामक होती है, उसकी नियामक सारूप्य सम्बन्ध से भी हो तो ज्ञान सत्य या यथार्थ कहा जाएगा। वस्तु के आकार की ज्ञान के अन्तर्विषय के रूप में आभासमानता ही वस्तु की अपरोक्षता अथवा विषय के रूप में प्रकाशमानता है।

ज्ञान के बाहर पुरुष-प्रमाता और प्राकृत वस्तु ज्ञान के अन्तर्विषय से अभिन्न हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। भ्रान्ति में ज्ञान का विषय बाहर होता ही नहीं है, स्वप्न में ज्ञान का विषय विषयी से बाहर नहीं होता। इस प्रकार जहाँ एक ओर ज्ञान अपने से भिन्न बाहरी कारण पर निर्भर करता प्रतीत होता है वहीं दूसरी ओर वह अस्तित्व का एक स्वायत्त क्षेत्र प्रतीत होता है। यह द्वैत इस बात का परिणाम है कि एक ओर ज्ञान मानव-व्यवहार के रूप में लिया जाता है, दूसरी ओर सर्वजन विदित स्वगत-बोध के रूप में लिया जाता है। कभी हम दूसरों को देखकर ज्ञान को पहचानते हैं, कभी अपने अन्दर झाँक कर।

एक ओर मानव-प्रमाता और प्राकृत वस्तुओं के सम्बन्ध पर आश्रित और युक्तिमत्ता से विशेषित मानव-व्यवहार के रूप में ज्ञान की उपलब्धि होती है, दूसरी ओर विषय और विषयी की अपरोक्षता के रूप में बोध-वृत्त्यात्मक ज्ञान का अस्तित्व अनिषेध्य होता है। बाह्य वस्तु और देहगत इन्द्रियों के सम्पर्क से व्यवहारात्मक ज्ञान जन्म लेता है, जिसमें प्राणी के प्रयोजनों के अनुरूप बाह्य वस्तुओं का उपयोग दिखाई देता है और जिसमें देही के सुख-दु:ख, इच्छा-द्वेष आदि के अनुरूप देहगत कर्मेन्द्रियों का उपयोग भी दीखता है। यही नहीं, इस व्यवहार में प्रस्तुत विषयों के साथ उनसे सम्बद्ध अप्रस्तुत विषयों की ओर विद्यमानवत् प्रतिक्रिया भी लक्षित होती है। 'ठण्ड में लकड़हारा स्वयं पेड़ को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काटने के बदले लकड़ी काटकर बेचता है, उससे ईंधन खरीदकर जलाता है।' 'शरीर के अन्दर के कष्ट से मनुष्य रोता, चिल्लाता है', 'सामने चिह्नों को देखकर वह उनके अर्थों के प्रति सजग हो जाता है।' इस प्रकार प्रयोजन-साधकता, आन्तरिक अवस्थाओं की बाह्य व्यंजकता, बाह्य चिह्नों या संकेतों की सार्थकता का ग्रहण मानव-व्यवहार में ज्ञान का आयाम प्रदर्शित करता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक स्तर पर ज्ञान और उसकी कारण-सामग्री भौतिक-जैविक क्रिया-कलाप के रूप में घटित होती है, जिसमें भौतिक द्रव्यात्मक और क्रियात्मक साधन दैहिक चेष्टाओं से एक विलक्षण अनुरूपता के सम्बन्ध से जुड़ते हैं। दूसरी ओर इस व्यवहार के समानान्तर स्वबोध-लक्षित ज्ञान का वृत्ति-प्रवाह भी रहता है जो अभौतिक होते हुए भी भौतिक पदार्थों के आकारों को चेतन विषयी के समक्ष प्रदर्शित करता है।

व्यवहारात्मक ज्ञान उस व्यवहार से अभिन्न है जो प्रवृत्ति-साफल्य के अनुकूल अर्जित संस्कारों से दिग्दर्शित होता है। इन संस्कारों की पृष्ठभूमि में एक स्तर जैविक संस्कारों का होता है, दूसरा जैविक, सामाजिक अनुकूलन के अनुकूल संस्कारों का, और एक स्तर भाषापेक्षी संस्कारों का। इन संस्कारों की प्रक्रिया एक ओर तो संस्कार-नियत प्रतिक्रियाओं के जटिल जाल पर निर्भर होती है, दूसरी ओर भाषा-सामाजिक-सम्प्रेषण और उपकरण-निर्माण के सन्दर्भों में अर्जित संस्कारों से, जिनमें युक्तिमत्ता कादाचित्कता का स्थान अधिकाधिक ले लेती है। प्राकृतिक वातावरण के अनुकूलन और सामाजिक सम्प्रेषण के सन्दर्भ में प्रेक्षाकारी कर्म से सहचरित भाषा-व्यवहार ही इस व्यवहारात्मक ज्ञान का मुख्य रूप है। यही जीव-विज्ञान, स्नायु-विज्ञान, मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान में अध्ययन का विषय होता है और अनेक दार्शनिक इसे ही ज्ञान का अथ और इति मानते हैं। उनके लिए मेरा दुःख वही है जो आप मुझ में देख पाते हैं। देह-यन्त्र के अतिरिक्त किसी चेतना की कल्पना एक मशीन में भूत की कल्पना है।

क्या संस्कारजन्य चेष्टा ही ज्ञान है? क्या ज्ञान-व्यवहार को निश्शेष रूप से ज्ञान कहा जा सकता है? ऐसा मानने पर एक ओर विषयी चैतन्य का लोप हो जाएगा, दूसरी ओर ज्ञान के विषय कर्म की प्रवर्तक वस्तुएँ बन जाएंगे। ज्ञान बोध-वृत्ति न रहकर कर्म-प्रवृत्ति में परिसमाप्त हो जाएगा। सामान्य अनुभव यह है कि हम अपने ज्ञान के अनुसार कार्य करते हैं, यह नहीं कि हम संस्कार-नियत कर्म-प्रवाह में बहते रहते हैं। 'लाल' प्रतिभास होने पर उसके पृष्ठभावी विकल्प के रूप में 'यहाँ दीवार पर लाल रंग उपयुक्त नहीं है' यह निर्णय स्मृति-संस्कारों के उद्‌बोध से सिद्ध नहीं होता। शब्द-समर्पित सामान्य धर्मों के तुलनात्मक प्रत्ययों के साथ जो हानोपादान-बुद्धि का उदय होता है वह संस्कार-नियत नहीं होता। उसमें विवेक-बुद्धि कार्य करती है और इससे विवेकबुद्धि को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बोध का एक प्रकार कहना उपयुक्त प्रतीत होता है न कि दैहिक प्रवृत्ति का एक प्रकार। यह विवेक वैसे नहीं सिखाया जा सकता जैसे स्थूल अथवा सूक्ष्म कर्म उपकरण-संचालन से शब्दोच्चारण तक। विवेक-बोध स्वयं अन्तःस्फुरित होता है। बोध देह की चेष्टाओं से भिन्न है यह सभी के लिए स्वविदित है। वस्तुतः कर्म और ज्ञान में एक मौलिक अन्तर है। कर्म सर्वथा विषयगत होता है यदि वह संकल्पात्मक मानसिक कर्म नहीं हो तो, जबकि ज्ञान विषयिगत होता है। कर्म का ज्ञान होता है, ज्ञान कर्म नहीं होता। व्यवहार की आश्रयभूत देह कर्म का आश्रय बनती है, किन्तु देहाभिमानी अहम्-प्रत्ययी चेतन ही ज्ञान का विषयी होता है। यदि दैहिक चेष्टाओं अथवा कर्मों को ही ज्ञान माना जाए एवं कर्म और ज्ञान का भेद स्थगित कर दिया जाए तो देह को स्वतन्त्र कर्त्ता मानना होगा और कर्म को उसके संकल्प पर आधारित।

वस्तुतः ज्ञान से अभिन्न कहे जाने वाले व्यवहार में देह और उसके अंगों का संचालन देहातिरिक्त बोध की कल्पना के बिना समझ में नहीं आ सकता। जो बट्टे प्राकृतिक क्रियाओं के फलस्वरूप खण्डित होते हैं उनमें, और आदिमानव के बनाये हुए पाषाणोपकरणों के बीच स्पष्ट अन्तर होता है। यह अन्तर इस बात के कारण है कि पाषाण के उपकरण बनाने वाला मानव शिक्षण-संस्कारों से और अपने लक्ष्य के अनुसार उपादान को बुद्धि-पूर्वक रूप देता है जबकि प्राकृतिक कारणों में इस प्रकार की प्रेक्षा नहीं देखी जाती। सभी मानव-व्यवहारों में बुद्धि का निर्देशन पता चलता है। वाचिक व्यवहार ज्ञान के निकटतम है, उसे समझने के लिए सिर्फ वस्तुओं का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, उसके लिए प्रत्ययों का परिचय आवश्यक है—

विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः

इस प्रकार ज्ञान को मानव-व्यवहार् का एक आयाम मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि यह आयाम देह की चेष्टाओं और क्रियाओं से स्वतन्त्र न होने पर भी उनसे अभिन्न नहीं है। विषयोल्लेखी अपरोक्ष बोध-वृत्ति और उसके अहमास्पद चेतन विषयी में अस्तित्व का एक स्वायत्त आयाम होता है जिसका भौतिक सत्ता में विलयन नहीं किया जा सकता। क्योंकि भौतिक सत्ता का परिचय जिन लक्षणों से होता है उनका यहाँ अभाव है और यहाँ जिन लक्षणों से बोध के अस्तित्व का परिचय होता है वे सर्वथा विलक्षण हैं। इन दोनों विरुद्ध स्वभाव वाली विषयसत्ता और विषयि-सत्ता के विलक्षण होते हुए भी व्यवहार में इनका पृथक्-पृथक् उपलब्ध न होना एक अद्भुत पहेली है—

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतर भावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्यय- गोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्माश्चाध्यस्येतरेतरविवेकेन, अत्यन्तविविक्त-योर्धर्म-धर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्त: सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार:। **(ब्रह्मसूत्र–शांकरभाष्य अ.१, पाद १)**

देह की परीक्षा से बोध का पता नहीं चलता, देह की चेष्टाएँ देखने से उसके साथ जुड़ी हुई स्वचेतन अहन्ता का पता नहीं चलता। व्यवहार के आश्रयभूत मानव में देह और मन के दो परस्पर सापेक्ष किन्तु स्वरूपत: भिन्न आयामों का पता चलता है।

बोध–वृत्ति, मन या चित्त आदि शब्दों से अभिहित वस्तु क्या है? इस पर नाना दार्शनिक प्रतिपादन हैं। मन को एक अभौतिक द्रव्य, अभौतिक और अद्रव्यात्मक धर्म, सूक्ष्म भौतिक द्रव्य, आत्मा की शक्ति, चैतन्य का ही एक रूप एवं अभौतिक पर प्राकृतिक तत्त्व इत्यादि बताया गया है। भौतिक देह के अभाव में मन की सत्ता रहती है कि नहीं? इस प्रश्न का उत्तर लौकिक प्रमाणों से निश्चयात्मक रूप से नहीं दिया जा सकता। किन्तु यह निश्चित है कि मन तब भी कार्य करता है जब इन्द्रियों से उसे सन्देश प्राप्त नहीं होते हैं, जैसे स्वप्न में अथवा समाधि में। सामान्यतया मन चित्तवृत्तियों के प्रवाह के रूप में रहता है, उसकी सत्ता काल में रहती है, देश में नहीं। इसके विपरीत भौतिक पदार्थ अनिवार्यतया देश में रहते हैं। चित्त की वृत्तियों में साम्वेदनिकप्रतिभास, शब्द, प्रत्यय और विकल्प, स्मृतियाँ और कल्पनाएँ रहती हैं। इन ज्ञान-वृत्तियों के अतिरिक्त चित्तवृत्तियाँ एषणात्मक और भावात्मक भी होती हैं। उन सभी में अहम् का उल्लेख भी रहता है और विषयाकार का उल्लेख भी। यदि हम प्रत्यवेक्षात्मक रूप से अपने को देखें तो क्षणिक बोध–वृत्तियों का निरन्तर प्रवाह रहता है। इस प्रवाह के एक स्थायी द्रष्टा की भी प्रतीति होती है, जिसे वृत्ति–प्रवाह के समान काल में नहीं रखा जा सकता। प्रत्यय–प्रवाह के इस अकालिक द्रष्टा को साक्षी आत्मा, वृत्त्युत्तीर्ण समन्वयक (ट्रांसेंडेंटल अप्पर्सेप्शन) आदि कहा गया है। किन्तु जैसे बोध–वृत्ति के बाहर भौतिक वस्तु–जगत् सन्देहास्पद है ऐसे ही उनके बाहर अहम् प्रत्ययी का अस्तित्व भी सन्देहास्पद है। जो बात असन्दिग्ध है वह अनुभव–प्रवाह है और उस प्रवाह में ही अन्य सभी वस्तुओं का आभास होता है।

इस विचार का आरम्भ इस स्थापना से हुआ था कि भौतिक वस्तुओं का जगत् और उसके साथ क्रिया–सम्बद्ध मानव–देह ज्ञान–व्यवहार का वस्तु–पक्ष है। उसमें ही बोध, चेतना, अहन्ता आदि आरोपित होते हैं और उन्हें तत्त्व–दृष्टि से भ्रान्ति ही मानना चाहिए। किन्तु अनुभव की अपनी गवाही ठीक विपरीत है। दैहिक और भौतिक सत्ताओं का पता हमें अनुभव से ही चलता है। हमारा अपरोक्ष अस्तित्व अनुभव–प्रवाह में निमग्न है। इसमें उपलब्ध प्रतिबिम्बों से ही हम वस्तु–जगत् की कल्पना करते हैं—

मूँदऊ आँख कतऊ कोऊ नाहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक प्रसिद्ध दार्शनिक का कथन है–जब तक मनुष्य बाहरी जगत् के विषय में सन्देह नहीं कर पाता, वह दर्शन के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता।

दूसरी ओर यह अनुभव की विशेषता है कि वह अपने विषय को प्रकाशित करता हुआ अपने आपको लगभग अप्रकाशित रखता है। ज्ञान के विषय ज्ञान के अन्तर्गत आकार नहीं प्रतीत होते, वे देशकाल में अवस्थित प्रतीत होते हैं, और उनकी अवस्थिति इन्द्रिय–सम्पन्न देही की अपेक्षा से तय की जा सकती है। वस्तु कहाँ है? इसके उत्तर में कहना होगा कि देखने वाले से अमुक दिशा में, अमुक दूरी पर, अथवा वक्ता के काल से अमुक दूरी पर वह वस्तु अवस्थित है। अर्थात् देही प्रमाता की अपेक्षा से ही इन्द्रियगोचर प्रमेय देशकाल में अवस्थित प्रत्यक्ष होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय स्वयं ज्ञाता के समक्ष उपस्थित होता है। अत: बाहरी वस्तुओं की यथादृष्ट सत्ता ही ज्ञान की नियामक है, यह दावा ज्ञान की सत्यता के दावे में ही अन्तर्निहित है। यदि ज्ञान सत्य है तो उसके विषय सत्य हैं। वे जैसे पता चलते हैं वैसे ही हैं, वे ज्ञान के बाहर और स्वतन्त्र पता चलते हैं तो उन्हें वैसा ही मानना होगा। इस स्थिति में विषयों की सत्ता असन्दिग्ध हो जाती है। किन्तु ज्ञान की ही सत्ता के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि ज्ञान की सत्ता उस प्रकार से प्रत्यक्ष नहीं होती जैसे उसके विषयों की। ज्ञान की सत्ता प्रमाणित करने के लिए तर्क प्रस्तुत करना पड़ेगा। यदि ज्ञान न हो तो विषयों का पता ही नहीं चलेगा। यह भी कहा जा सकता है कि एक ज्ञान को सिद्ध करने के लिए उसके प्रत्यवेक्षात्मक ज्ञान का सहारा लेना होगा। स्मृति भी अनुभव का प्रमाण प्रस्तुत करती है, क्योंकि स्मृति अनुभव और अनुभूत विषय की एक साथ होती है। यदि स्मृति न हो तो न तो ज्ञान सम्भव है, न व्यक्ति की पहचान। अत: समस्त व्यवहार में आपादित स्मृति ज्ञान की भी सत्ता प्रमाणित करती है।

ज्ञान की सत्ता सिद्ध होने पर भी उसके विषय में सपाट यथार्थवादी दृष्टिकोण अनेक सुविदित कठिनाइयों को जन्म देता है। यदि लाल–पीला, घट–पट आदि पदार्थ जैसे हैं वैसे ही प्रत्यक्ष में प्रदत्त और गृहीत होते हैं तो फिर उनके विषय में भ्रान्ति किस प्रकार सम्भव है? कभी 'रस्सी साँप दीखती है', जिसमें स्मृति–रूप अन्य विषय का प्रस्तुत विषय पर आरोप होता है, कभी 'शंख पीला दीखता है', क्योंकि आँखों में पित्त का प्रकोप है। किन्तु 'नाव पर चलते तट उल्टी दिशा में चलता दीखता है', 'महाकार सूर्य और चन्द्र अल्पाकार दीखते हैं', 'समानान्तर रेखाएँ पीछे हटती हुई मिलती दीखती हैं', 'गोलाकार अण्डाकार दीखते हैं' इत्यादि स्थलों में न तो स्मृति–विभ्रम है, न आँखें में रोग है, किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में प्रकाश–रश्मियों की गति और दिशा के वैशिष्ट्य के कारण विषय जैसा होता है वैसा नहीं दीखता है। इस प्रकार के दृश्य–परिवर्तन को नियत होने के कारण अन्य भ्रान्तियों के तुल्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष विज्ञान का आलम्बन और उसका बाह्य हेतु दोनों एक नहीं होते।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष विज्ञान की जनकता केवल बाह्य विषय पर निर्भर नहीं करती, उसमें विषय और इन्द्रियों का सन्निकर्ष और इन्द्रियों की अवस्था तीनों ही समुचित रूप से हेतु होते हैं। इस कारण प्रत्यक्ष-गृहीत विषय और अपने देश-काल में अवस्थित विषय एक नहीं कहे जा सकते। प्रत्यक्ष में गृहीत विषय बाह्य विषय का उससे अभिन्न प्रतीत होता हुआ ज्ञापक होता है, जो आभास चिह्न अथवा आकार के रूप में होता है और बाह्य विषय से सम्बन्ध रखता है। बाह्य रूप से प्रतिफलित प्रकाश-रश्मियाँ आँखों से मस्तिष्क तक एक नियत आकारिक सूचना देने वाले सिग्नल भेजती हैं जिनसे द्रष्टा उस आकार के रूप-रंग का आभास प्राप्त करता है। इस प्रकार बाह्य देश-काल में स्थित रूप-रंग अथवा कोई दृश्य घटना प्रत्यक्ष-ज्ञान में आकारवाही तरंगों के द्वारा ज्ञापित आकार के रूप में ही आभासित होती है। बाह्य विषय अथवा घटना के आकार अथवा देश-काल ठीक वे नहीं होते जो दृष्ट विषय या घटना के होते हैं। यह बात न्यूनाधिक रूप से सभी प्रकार के प्रत्यक्षों के लिए सही है। स्प्रष्टव्य विषय का प्रतीयमान ताप त्वचा के ताप की अपेक्षा रखता है। शब्द, रस, गन्ध आदि में भी सापेक्षता रहती है। इसीलिए वैज्ञानिक प्रयोगों में बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष-योग्य गुण उपकरणों के द्वारा नापे जाते हें। किन्तु उपकरणों के द्वारा साधारण गुण और विशेष गुणों की मात्राएँ नापी जा सकती हैं। विशेष गुणों के ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में आभासमान प्रकारों का उसमें पता नहीं चलता। तापमान का तापमापक से पता चलता है, किन्तु ताप की प्रत्यक्ष प्रतीति क्या होती है यह पता नहीं चलता। प्रकाश की किरणों की तरंग-दीर्घता से रंगों का पता चलता है और प्रकाश की उज्ज्वलता से गति आदि का पता चलता है, किन्तु रंगों की प्रतीति क्या होती है यह पता नहीं चलता। बाह्य वस्तुओं के धर्म उपकरणों में प्रतिबिम्बित संरक्षित और मानतः निर्धारित किये जा सकते हैं, किन्तु विशेष गुणों के आभास प्रत्यक्ष द्रष्टा को ही पता चलते हें।

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं : एक तो यह कि प्रत्यक्ष द्रष्टा के लिए वस्तु स्वतःप्रदत्त न होकर आकारतः प्रदत्त होती है। दूसरी यह कि प्रत्यक्ष द्रष्टा का स्थान कोई यान्त्रिक करण या उपकरण नहीं ले सकता। भौतिक यन्त्रों के समान देह भी एक यन्त्र है। यंत्र चेतन विषयी अथवा बोध की अपेक्षा रखते हैं। दूसरी ओर, यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान अपने से भिन्न बाह्य वस्तु को प्रदर्शित और अतः प्रमाणित करता है, वह उसके स्वरूप के विषय में प्रमाण नहीं होता। दृष्ट रूप अथवा आभास अपने जनक दृश्य विषय को स्वभिन्नतया सूचित करता है किन्तु वस्तु का आभास-निरपेक्ष स्वरूप क्या है, यह नहीं बता सकता।

भ्रान्ति की सम्भावना पर विचार करते हुए और प्रत्यक्ष-दृष्ट विषयों की प्रत्यक्ष-सापेक्षता पर विचार करते हुए कुछ विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वरूपतः अज्ञेय बाह्य वस्तु की सत्ता मानने का ही कोई कारण नहीं है। बिना देश की प्रतीति के किसी भी बाह्य वस्तु की सत्ता एवं उसके विशेष गुणों की प्रतीति सम्भव नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। देश की सत्ता ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के बाहर सोची नहीं जा सकती। इसीलिए कान्ट ने देश को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का एक आयाम माना है न कि प्रत्यक्ष दृश्य वस्तु का स्वगत धर्म। इसी प्रकार दिङ्नाग ने सम्बन्धात्मक सापेक्ष धर्मों को विकल्पमूलक माना है न कि प्रत्यक्ष–दृष्ट। यदि देश–काल प्रतीति के आयाम हैं और साधारण गुण विकल्प–सापेक्ष हैं और विशेष गुण आकारत: और प्रतिबिम्बित आभासित होते हैं तो बाह्य विषय स्वरूपत: अज्ञात हेतु बन जाते हैं। हेतुहेतुमद्भाव स्वयं अप्रत्यक्ष और विकल्प का एक प्रकार है, अत: बाह्य विषय अज्ञात और अवक्तव्य बन जाता है। इस प्रकार के बाह्य विषयों को न मानने में ही कल्पनालाघव होगा। यही नहीं, 'सहोपलम्भ नियमाद् अभेदो नील तद्धयो' इस प्रसिद्ध युक्ति से ज्ञान और उसके विषय का अभेद सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान और उसके विषय सदा साथ ही उपलब्ध होते हैं अलग–अलग नहीं। अत: उनकी पृथक् सत्ता की कल्पना का कोई दृष्टान्त नहीं है। यही नहीं, प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय से सादृश्य होता है। यह सादृश्य तभी सम्भव है जब दृश्य विषय भी ज्ञान–स्वरूप हो। दृश्य विषय के विश्लेषण से उसके सभी धर्म ज्ञान के प्रकारों में ही विलीन हो जाते हैं और उसका अस्तित्व उपलब्धि का नामान्तर सिद्ध होता है। जैसे स्वप्न में ज्ञान का आन्तर विश्व भी बहिर्वत् प्रतीत होता है ऐसे ही जागृत अवस्था में भी मानना चाहिए।

बाह्य वस्तुओं के निषेध के लिए प्रस्तुत इस प्रकार की युक्तियाँ अनेक दृष्टियों और मान्यताओं पर आधारित हैं। इनका एक विभाग तो बाह्य विषयों के स्वरूप को प्रत्यक्ष–निरपेक्ष नहीं देख पाता। किन्तु प्रत्यक्ष के व्यक्तिगत होने के कारण यह युक्ति दृश्य जगत् को वैयक्तिक भ्रान्ति बना देगी, जबकि दृश्य जगत् सार्वजनिक प्रतीति से सिद्ध है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इन्द्रियों की रचना सब मनुष्यों में समान होने के कारण उनके द्वारा प्रत्यक्षीकृत विश्व भी समान-रूप होते हैं। इस मौलिक प्रत्यक्ष–जन्य भ्रान्ति के कारण बाह्य अर्थों के नियत और विश्वजनीन प्रतीत होने से एक बाह्य विश्व की प्रतीति में कोई बाधा नहीं होती। सभी लाल चश्मे पहने हों तो सबको ही विश्व लाल दिखाई देगा। इस भ्रान्ति–कल्पना के विरुद्ध यह एक प्रबल युक्ति है कि भ्रान्ति के विषय अर्थ–क्रिया–समर्थ नहीं होते, प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। रज्जू में दृष्ट साँप काटता नहीं है। किन्तु इस युक्ति का एक प्रतिदृष्टान्त स्वप्न में मिलता है जहाँ भ्रान्त विषय भी जीते-जागते प्रतीत होते हैं। किन्तु एक और प्रबल युक्ति विश्व की स्वप्नवत्ता के विरुद्ध खड़ी होती है। किसी भी मानव–प्रत्यक्ष के न रहने पर भी बाह्य विश्व का कारण-व्यापार चलता रहता है यह अनुमान किया जा सकता है। अत: जहाँ तक प्रत्यक्ष आभास को भ्रान्ति मानने की कल्पना है वह बाधित होती है। ऐसे ही, एक विषय का प्रत्यक्ष होने पर अन्य विषय की उपलब्धि नहीं होती, अर्थात् जहाँ एक विषय की उपलब्धि होती है वहाँ दूसरे विषय का अभाव होता है। 'नील' की जहाँ उपलब्धि होती है वहाँ 'पीत' के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभाव की उपलब्धि होती है। अत: उपलब्धि और विषय सदा साथ नहीं रहते। इससे उनकी सहोपलम्भता का नियम असिद्ध हो जाता है। यही नहीं, उनकी सह-उपलब्धि ही उनका भेद सिद्ध करती है। यदि वे भिन्न न हों तो न उनका साथ उपलब्ध होगा, न उनका सादृश्य उपलब्ध होगा।

इस प्रकार प्रत्यक्ष के विश्लेषण से यद्यपि यह सिद्ध होता है कि दृश्य विषय स्वरूपत: उपलब्ध न होकर आकारतया या आभसतया उपलब्ध होते हैं, किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, या कि उनका स्वरूप ज्ञान से अभिन्न है। प्रत्यक्ष में उनका अपरोक्ष आभास होता है, उनके अस्तित्व का पता चलता है, किन्तु उनका स्वरूप क्या है यह नहीं पता चलता, सिवा इसके कि वे नियत रूप से प्रत्यक्ष आभासों के जनक हैं। जैसा ऊपर कहा गया था कि, यद्यपि विशेष गुणों के द्वारा बाहरी विश्व का प्रत्यक्ष होता है, उसका विज्ञानसम्मत रूप राशियों के समीकरण के रूप में ही अन्तत: उपलब्ध होता है।

प्रत्यक्ष आभासों के विषय विकल्पों के द्वारा निर्धारित होते हैं और इस निर्धारण में मूल विकल्पात्मक प्रत्यय या योजनाएँ पदार्थ-विभाजन की कोटियाँ होती हैं, यह भी ऊपर कहा गया था। इन कोटियों का मूल आभास प्रदत्त बाह्य विषयों की विशेषताएँ हैं अथवा वे ज्ञान के ही मौलिक और अनिवार्य प्रकार हैं जिनके बिना ज्ञेय विषयों की कल्पना नहीं की जा सकती, यह प्रश्न सुसमाधेय नहीं है। बाह्य विषयों को अनुभव में यथावत् प्रदत्त मानने पर इन कोटियों को वस्तुगत मानना होगा। किन्तु विषय मात्र में इनकी प्रवृत्ति होने से इन्हें ज्ञान-समवेत मानना ही युक्ति-युक्त है। इसीलिए धर्म और धर्मि-भाव, कार्य-कारण-भाव आदि की प्रतीति, विषय-प्रतीति के साथ ही आपादित होती है। इस बात को देखते हुए विषयों की ज्ञान-सापेक्षता और सुदृढ़ होती है। किन्तु जैसे विषयों के ज्ञात रूप की आभाससापेक्षता उनकी स्वतन्त्र सत्ता को नहीं मिटा सकती वैसे ही उनकी विकल्पापेक्षता भी उसमें असमर्थ है।

जैसे-जैसे हम विषयों पर विचार करते हैं उनके ज्ञात स्वरूप को ज्ञान से अलग सम्भाव्य नहीं मान सकते। किन्तु ज्ञान के खाँचों में विन्यस्त वस्तु-धर्म वस्तुत्व को निश्शेष नहीं करते। किसी दफ्तर की कार्य-पंजिका में वेतन-वितरण का लेखा कर्मचारियों की वर्गीकृत भूमिकाओं के अनुसार होता है और उस ब्यौरे में कर्मचारियों के अलग-अलग नामों का कोई महत्त्व नहीं होता, किन्तु इससे उनकी पृथक् सत्ता निरस्त नहीं होती। ऐसे ही विषयों को हम जिन धर्मों से पहचानते हैं वे उनके ज्ञान के सर्वथा बाहर होने पर कैसे होंगे यह अवक्तव्य प्रतीत होता है। किन्तु इन धर्मों की आश्रयभूत सत्ता का इससे अपलाप नहीं होता। यही नहीं, वस्तुओं के ज्ञात धर्मों में कुछ सामान्य बातें भाषा-जन्य हो सकती हैं और वे मूलप्रत्ययात्मक या पदार्थ-प्रकारात्मक कोटियाँ भी हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकती हैं, किन्तु वे वस्तुगत भेद के अनुसार ही लागू होती हैं। नाना भाषाओं में अलग-अलग ढंग से कहे जाने पर भी जैसे अर्थ नहीं बदलता ऐसे ही विकल्प-योजनाओं के बावजूद वस्तु-भेद नहीं मिटता। अत: तार्किक प्रत्ययवाद भी वस्तुओं की नाना भेद-सम्पन्न सत्ता को ज्ञान में विलीन नहीं कर सकता।

यही नहीं, विषयों की सत्ता को अव्यक्त मानने के विरुद्ध और भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं। इस प्रकार की अव्यक्त बाह्य सत्ता की कल्पना के विरुद्ध दो विपरीत दृष्टियों से आक्षेप किये जा सकते हैं। एक ओर तो यह कहा जा सकता है कि ज्ञान कोई साकार पदार्थ नहीं है, ज्ञान का अपना कोई आकार या कोटियाँ नहीं होती हैं, जिनके माध्यम से वह विषयों को आच्छादित करते हुए पहचाने। ज्ञान सर्वथा स्वच्छ और निराकार होता है, सर्वथा पारदर्शी। इसका अपना कोई रंग या आकार नहीं होता। इसकी तुलना रंगीन चश्मे या रंगीन रोशनी से नहीं की जा सकती। यह उसका स्वभाव है कि वह वस्तु को यथावत् प्रदर्शित और निर्धारित करे। निर्विकल्प प्रत्यक्ष और सविकल्प प्रत्यक्ष में अन्तर यही है कि पहले क्षण का प्रत्यक्ष अनिर्धारित होता है और सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक में उपलब्ध विशेषों का ही निर्धारण करता है। यह निर्धारण शब्दों और प्रत्ययों की सहायता से निर्विकल्पक प्रतीति के विश्लेषण-संश्लेषण के द्वारा सम्पन्न होता है। विकल्प-व्यापार आरोपण या मिथ्यापन का व्यापार नहीं है, वह अपरिच्छिन्न, परस्फुट ज्ञान को परिच्छिन्न करता है। नील घट के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में नील और घट का धर्म और धर्मी भाव से निर्णय नहीं होता है। उनके परस्पर सम्बन्धपूर्वक ज्ञान से विषय का ज्ञान परिच्छिन्न हो जाता है। इस प्रकार विकल्प अध्यवसाय या निर्णय से अभिन्न है और वह ज्ञान को अधिक गहरा ज्ञापक और उपयोगी बनाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी इन्द्रियाँ और मन अपनी सहज ज्ञान-शक्ति के अनुसार विषयगत धर्मों का ग्रहण करते हैं। यदि कहीं भ्रान्ति देखकर प्रत्यक्ष मात्र को भ्रान्त मान लिया जाए तो सामान्य प्रत्यक्ष की व्यवहार-समर्थता ही भ्रान्त हो जाएगी, जो कि प्रतीति-विरुद्ध है। व्यवहार-समर्थ होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान को अभ्रान्त मानना चाहिए और सविकल्पक ज्ञान को निर्विकल्पक के अविरुद्ध। इस प्रकार विषयों की ज्ञान-सापेक्षता का यही अर्थ है कि विषयों के स्वरूप से ज्ञान का पता चलता है जो कि ज्ञान शब्द के अर्थ की पुनरुक्ति मात्र है।

यदि वस्तु और प्रामाणिक ज्ञान को व्यवहाराविसंवादकता से परिभाषित करें तो उपर्युक्त मत निर्दोष है, किन्तु यह भ्रम और सत्य के मौलिक अर्थों की उपेक्षा करता है। न असफल प्रवृत्ति भ्रम है, न सफल प्रवृत्ति सत्य, प्रवृत्ति की सफलता और असफलता प्रवृत्ति के निर्देशक ज्ञान की सत्यता और मिथ्यात्व पर निर्भर करती है। कभी पूरा सत्य न होने पर भी ज्ञान सफल प्रवृत्ति का जनक होता है, जैसे कहीं चमक देखकर उसे दीपक समझकर वहाँ जाने पर दीपक को कुछ दूर पर अवस्थित देखने पर दीपक खोजने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की प्रवृत्ति की परम्परया सफलता होती है। इसलिए इस प्रकार का ज्ञान कथंचित् अविसंवादी होते हुए भी यथार्थ नहीं कहा जा सकता। प्रवृत्ति-साफल्य प्रामाण्य की कसौटी है न कि प्रामाण्य का अर्थ। किन्तु यहाँ भी यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्य ज्ञान की खोज एक अनन्त अनुसन्धान है जिसमें प्रवृत्तिगत सत्यापन-मिथ्यापन महा साधन है।

इन्द्रियों के द्वारा जो जानता है उसका सम्यक् ज्ञातृत्व अथवा प्रमातृत्व दो अंशों का अवगाहन करता है। एक ओर विषयाकार को अभिन्नतया प्रकाशित करता हुआ वृत्तिज्ञान में अन्तर्व्यापित अहं विषयी होता है। यही सामान्यतया व्यावहारिक प्रमाता के रूप में प्रसिद्ध है। दूसरी ओर वृत्त्याकार का उससे उत्तीर्ण द्रष्टा ही वास्तविक रूप में चैतन्य कहलाने योग्य है। व्यावहारिक प्रमाता बाह्य विषयों का इन्द्रियों द्वारा सम्पर्क भौतिक जैविक स्तर पर करता है जिसका परिणाम विषयाकार की सूचना अथवा विषयाकार चित्तवृत्ति होती है। यह वृत्तिज्ञान चित्तवृत्ति से अनन्यवत् द्रष्टा या प्रमाता के द्वारा बाह्य वस्तु का साक्षात् नहीं करके उसके इन्द्रियार्जित आकार के द्वारा उसका निर्धारण करता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि जहाँ ऐन्द्रिय व्यवहार के स्तर पर बाह्य वस्तु स्वयं उपस्थित होती है, चेतन प्रमाता के ज्ञान के स्तर पर वह आकारत: सूचित होती है। बाह्य वस्तु और उसके आकार की सूचना के बीच एक नियत कार्य-करण-शृंखला होती है किन्तु बाह्य वस्तु के स्वरूप को चित्तवृत्ति के आकार से अभिन्न नहीं माना जा सकता। यह मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि मानव-इन्द्रियों की रचना वस्तुस्वरूप के यथार्थ प्रदर्शन के लिए ही हुई है। इन्द्रियों की रचना जैविक विकास के क्रम में प्रवृत्ति-साफल्य के लिए हुई है, उनके द्वारा अर्पित ज्ञान का सत्य भी व्यावहारिक सत्य ही है—

> **प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्, प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्ति:।**

प्राकृत-जगत् का विज्ञान यह निर्धारित करना चाहता है कि परिस्थितियों में किस प्रकार की घटनाएँ घटेंगी और कैसे उनका नियन्त्रण और उपयोग किया जा सकता है? 'इन्द्रियों के द्वारा दी गयी सूचनाओं के मस्तिष्कीय संगणक के द्वारा विश्लेषण से इस प्रकार का ज्ञान देही प्रमाता को प्राप्त होता है और वह उपकरणों की सहायता से विकसित होता है', इस सन्दर्भ में जैसे बाह्य घटनाओं के घटित होने की शर्तों को जानना आवश्यक है ऐसे ही इन्द्रिय-मस्तिष्कात्मक यन्त्र के द्वारा स्वस्थ कार्य करने का भी ज्ञान यह जाने बिना पर्याप्त है कि उस यन्त्र के उपयोग में क्या उससे भिन्न और समानान्तर कोई बुद्धि-यन्त्र भी है जिसका स्वामी दैहिक प्रमाता से भिन्न कोई चेतन द्रष्टा है? मैं जब अपनी ओर देखता हूँ तो दैहिक संवेदनों के अतिरिक्त स्मृत्याभास और शब्दानुविद्ध विषय-प्रतीतियों का एक प्रवाह उपलब्ध होता है। यह निश्चित है कि ये स्मृतियाँ और शब्द-प्रतीतियाँ वैसे ही मस्तिष्क की क्रियाओं पर निर्भर हैं जैसे संवेदन ऐन्द्रिय क्रियाओं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर। मूर्च्छा अथवा दैहिक विकृति की स्थिति में यह सब अन्तर्बोध लुप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यद्यपि बोध की स्वरूपत: पृथक् सत्ता अनपलाप्य है तो भी उसकी विषय-वस्तु उसे स्वत:प्राप्त नहीं होती प्रत्युत इन्दियों की सूचनाओं की मस्तिष्कीय योजनाओं के द्वारा ही प्राप्त होती है। चेतन विषयी ऐसा द्रष्टा है जो अपने से भिन्न दर्शन-यन्त्र में अगत्या निबद्ध है। उसी दर्शन-यन्त्र पर आरूढ़ होकर वह विश्व-दर्शन करता है। यदि इतनी ही बात पूरी होती तो ज्ञान को जैविक प्रवृत्ति से अलग मानना कल्पना-गौरव और निरर्थक विकल्प मात्र मानना ही युक्त-संगत प्रतीत होता, जैसा कि व्यवहार-मनोवैज्ञानिक और प्रत्यक्षवादी दार्शनिक मानते हैं। प्रत्यक्ष और तर्क के आधार पर विज्ञान का प्रासाद रचा जा रहा है। उसमें पुराने बुद्धिवाद की उपयोगिता नहीं है, जो बुद्धि को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन मानता था। बुद्धि में कुछ भी ज्ञान स्वत:प्रदत्त नहीं है, वह केवल प्रदत्त विषयाकारों की प्रत्यक्ष-समर्थित योजना-प्रणाली है। यह योजना-प्रणाली या तर्क-व्यवस्था किसी प्रागनुभविक तत्त्वों पर आधारित नहीं है। इस प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान प्रामाणिक नहीं है, यह मानकर समाजविज्ञान भी उसकी विधि का अनुसरण करता है। परम्परागत तत्त्वमीमांसा और धर्ममीमांसा वैज्ञानिक न होने से अब ज्ञान से बाहर मान ली गयी हैं।

वस्तुत: ज्ञान का यह विवरण प्रचलित और उपयोगी होते हुए भी अधूरा है, वह तत्त्व-जिज्ञासु मानव को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। किसी वस्तु का तत्त्व उसके प्रत्यक्ष आभास से निर्धारित नहीं हो सकता, क्योंकि आभास मुँह के स्वादनवत् होता है, वस्तु का तत्त्व नाप-जोख से ही तय हो सकता है, जब तक किसी विशेष परिमाण को अनिवार्य न सिद्ध किया जा सके। इस अपार विस्तृत सृष्टि में यह कभी भी सम्भव नहीं है। न वस्तु का तत्त्व विखण्डनात्मक विश्लेषण से ही नि:शेष होता है, क्योंकि इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है। सभी वस्तुओं के ज्ञान में सामान्य, सम्बन्ध, संख्या एवं गति-स्थिति की नियमाधीनता अनिवार्य तत्त्व हैं। इनमें से कोई भी तत्त्व प्रत्यक्ष मात्र से पता नहीं चलता। उसके लिए विकल्पन व्यापार के अतिरिक्त कुछ बुद्धिगत तत्त्वों की भी आवश्यकता पड़ती है। 'लाल फूल' एक वस्तु है, यह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रदत्त न होकर विचार-प्रदत्त होता है। जो बाह्य प्रदत्त वस्तु है उसके स्वरूप का निर्धारण प्रत्यक्ष संवेदन की अपेक्षा रखता है, किन्तु वह संवेदन सम्पूर्ण नहीं होता। 'लाल', 'बहुदलाकार', 'सुगंध', 'कोमलता' आदि संवद्ध धर्म प्रतिभासगोचर होते हैं। उनके संसर्ग से निर्धारित विषय प्रत्यक्ष, स्मृति, संस्कार, भाषा और विकल्पन व्यापार से निष्पन्न हाता है। 'यह लाल फूल है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष में प्रतिभासित न होकर उसके अनुगत विकल्प के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार विकल्प में प्रतिभास-सामग्री के अतिरिक्त ज्ञान-समवेत भाषा-निहित विषयता के प्रकारों का उपयोग भी होता है। विषय का यह प्रकार-परिच्छेद किसी प्रकार से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष-गोचर नहीं माना जा सकता। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक का जनक है। सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक का न विरोधी मानना आवश्यक है न उस पर असम्बद्ध आरोप, किन्तु तो भी वह उससे भिन्न कोटि का ज्ञान होता है। अनुमान-जन्य ज्ञान में यह बात और भी स्पष्ट देखी जा सकती है। सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का एक आधार प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है दूसरा विकल्प-व्यापार। अनुमान-जन्य ज्ञान का एक आधार सविकल्पक ज्ञान होता है दूसरा उस पर आधारित सविकल्पक ज्ञान। सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान भी हानोपादान बुद्धि-रूप एक अन्य सविकल्पक ज्ञान का जनक होता है। इस प्रकार की उत्तरोत्तर ज्ञान-श्रेणी में निर्णयात्मक ज्ञान प्रतिभास-प्रदत्त संवेद्यों से दूर चलता चला जाता है। 'लाल फूल', 'यह फूल लाल है', 'यह फूल नीला नहीं है', 'इस फूल का लाल रंग सुन्दर है' इत्यादि ज्ञान-श्रेणियों में प्रदत्त संवेद्यों से क्रमशः अतिरिक्त ज्ञान के विषय उन्मीलित होते हैं। इन निश्चयों में आवश्यक रूप से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त स्मृति, भाषा, तुलना, ज्ञानगत कोटियाँ एवं आदर्श कोटियाँ अन्तर-व्यापारित होती हैं। इनको न इन्द्रिय-ग्राह्य विषय माना जा सकता है, न ऐन्द्रिक व्यापारों के मानसिक प्रतिफल। ज्ञान के साथ जो विषय के अस्तित्व की प्रतीति और अस्तित्वगत प्रकारों की प्रतीति होती है वह ज्ञान से विभक्त नहीं की जा सकती। ज्ञान की विषय-वस्तु बनने पर बाह्य वस्तु का जिस प्रकार स्वरूपोन्मीलन होता है वह ज्ञान के स्वाराज्य को प्रदर्शित करता है। एक प्रचलित आधुनिक मत ज्ञान को इसलिए ज्ञाता और मनोघटित से अलग कर उसे मात्र वस्तु-तंत्र प्रतिरूपण मानता है, जिसका रूप ज्ञान-प्रतिपादक वाक्यों में देखा जा सकता है। कुछ दार्शनिक तो इन वाक्यों को ही स्वतन्त्र सत्ता प्रदान करते हैं। किन्तु इस प्रकार की दृष्टि एकांगी अतिवाद है। यदि ज्ञान ज्ञाता के मन में आविर्भूत होते हुए भी स्वरूपतः नित्य है तो उसे वस्तुओं से भी उतना ही स्वतन्त्र मानना पड़ेगा जितना ज्ञातृ मन से। नाना दोषों और भ्रान्तियों से लिप्त ज्ञानाभास यदि सत्य और नित्य ज्ञान की ओर संकेत करते हैं तो उनकी विषय-वस्तु को भी सत्य और नित्य होना चाहिए। यह ज्ञान तार्किक व्यावृत्तियों और प्रकारों से स्वरूपवान् नहीं बन सकता। इसके लिए एक प्रकार का तात्त्विक भावाद्वैत मानना होगा।

यद्यपि आभास के स्तर पर ज्ञान विषय के ज्ञान के साथ उसके पृथक् अस्तित्व का भी गृहण करता है किन्तु उसके स्वरूप की व्याख्या वह विकल्प के नाना स्तरों पर ही करता है। इस प्रक्रिया में उसके दिग्दर्शक जैविक समीहा, अनादि वासनामूलक भाषा-विकल्प, स्मृति, अनुमान और तर्क-प्रतिभा, ज्ञाननिष्ठ संगति, सम्पूर्णता की प्रेरणा एवं ज्ञान का सहज स्वरूप-सन्धान ये सब नाना घटकों के रूप में विद्यमान रहते हैं। जहाँ विकल्पात्मक ज्ञान आभास-प्रदत्त सामग्री के विचार पर आधारित है वहाँ वह परोक्ष किन्तु परिच्छिन्न होता है, उसकी विषय-वस्तु भी परम्परा या प्रत्यक्ष विषयों से उद्गृहीत होने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण उनका अतिक्रमण नहीं करती। ऐसा एक दृष्टि से युक्ति-युक्त प्रतीत होता है, किन्तु विकल्पात्मक ज्ञान के कुछ तत्त्व ऐसे हैं जिन्हें बाह्य विषयनिष्ठ मानना कठिन है। प्रत्यक्ष आभास विशेष संवेद्यों का ही ग्रहण करते हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य, सम्बन्ध एवं अभाव का प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है? इसके विरोध में कुछ दार्शनिक इन सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं और उसके लिए अलग-अलग प्रकार की प्रत्यासत्तियों की कल्पना करते हैं। कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी प्रत्यक्ष विषय को विशेष न मानकर सामान्य-विशेषात्मक अवयवी मानते हैं। किन्तु इन कल्पनाओं के विरुद्ध धर्मकीर्ति द्वारा उल्लिखित मानसिक प्रयोग अकाट्य लगता है। यदि हम निश्चल भाव से किसी विषय का प्रत्यक्ष करें तो पार्यन्तिक स्थिति में वह एक संवेद्य स्वलक्षण अथवा संवेद्य क्षण सिद्ध होगा। इस संवेदन-क्रम को गणितीय सीमा कह सकते हैं, जो कि क्षण की अवधारणा की समानान्तर है। वस्तु द्रव्य विशेष या व्यक्ति के रूप में सत्तावान् होती है किन्तु उसके ज्ञान के लिए सामान्य की योजना आवश्यक होती है जो कि स्वतः ज्ञान का विषय होते हुए भी सम्भाव्यता का एक प्रकार है न कि वास्तविकता का। इस प्रकार के सम्भाव्य भाव प्रत्यक्षगोचर होते हुए प्रत्यक्षातीत विषयों को ज्ञेय सार्थकता प्रदान करते हैं। उन्हें वस्तु-ग्राहक चिह्न मात्र बताना इस बात का अपलाप कर देता है कि वे विशेषात्मक धर्म अथवा धर्मी व्यक्तियों के चिह्न नहीं हैं। सब गायों के लिए 'गो' शब्द का तभी प्रयोग हो सकता है जब गायों का साधर्म्य विदित हो।

इसी प्रकार, निषेधात्मक वाक्यों से सूचित अभाव को भाव की एक विधा रूप में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। न अनेक आभासों को तुलनात्मक रीति से जोड़ते या अलग करते सम्बन्ध स्वयं प्रत्यक्ष रूप से पृथक् होते हैं। कार्य-कारणभाव, देश-कालगत पौर्वापर्य, भेदाभेद, ज्ञापक-ज्ञाप्यभाव, धर्म-धर्मिभाव, विषय-विषयिभाव, संख्याओं का समूहगत पर्याप्ति-सम्बन्ध इत्यादि वस्तु-जगत् के ज्ञान के आवश्यक अंग होते हुए भी स्वयं प्रत्यक्षगोचर नहीं होते। इससे यह स्पष्ट होता है कि सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से जितना ही अधिक समृद्ध होता है उतना ही वह प्रत्यक्ष धर्मों से दूर होता है। प्रत्यक्ष से जिस वस्तु-जगत् का आभास होता है उसका स्वरूप प्रत्यक्ष में नहीं समाता है। तथाकथित प्रत्यक्ष वस्तुओं में एक प्रभा-मण्डल की तरह अप्रत्यक्ष धर्मों का परिवेश होता है। इन अप्रत्यक्ष विकल्पगोचर धर्मों के आधार पर ही बने हुए उपकरणों ने प्रत्यक्ष वस्तुओं के उन पक्षों को उजागर किया है जो सीधे ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से कभी पता नहीं लग सकते थे। इसलिए प्रत्यक्षवादी होते हुए भी आधुनिक विज्ञान अपनी ज्ञान-व्यवस्था में तार्किक निगमन को श्रेष्ठ स्थान देता है। प्रत्यक्ष ज्ञान इस बात की कसौटी के रूप में अधिकतर प्रयुक्त होता है कि कल्पनात्मक ज्ञान प्रवृत्ति-सामर्थ्य से युक्त है कि नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रसिद्ध है कि प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेय इन चार के विवेचन से ज्ञानमीमांसा पूरी होती है। हमने इस प्रसंग में इन चारों में विद्यमान एक द्वैत की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसकी विस्मृति से ज्ञानमीमांसा उलझ जाती है। प्रमाता देही मानव भी है और ज्ञान का विषयी भी। प्रमिती सफल प्रवृत्ति का एक आयाम भी है और बोध-वृत्ति भी। प्रमाण इन्द्रियाँ भी हैं और ज्ञान भी। प्रमेय ज्ञान के जनक वस्तु–विषय भी हैं और ज्ञान की अपरोक्ष विषयवस्तु भी। हमने ऊपर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जहाँ तक वस्तु के आभास के साथ ही उसके अस्तित्व का आभास होता है, उसका स्वरूप अधिकांशतया अव्यक्त रहता है एवं उसका पता विचार से चलता है। इसके साथ ही यह भी बोध सिद्ध है कि ज्ञान का विषय ज्ञान से भिन्न होता है। घट और घट के ज्ञान को कभी भी अभिन्न नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जहाँ ज्ञान अपने बाहर विषय के वास्तविक अथवा सम्भाव्य अस्तित्व का पता देता है वहाँ उसका अपना कोई आकार नहीं कहा जा सकता। आकार विषय का ही हो सकता है और विषय ज्ञान के बाहर ही होगा। अपने से भिन्न विषय के आकार को ज्ञान अपरोक्षतया प्रकाशित करता है। यह अपरोक्षता ही विषय-ज्ञापन है और इसी रूप में ज्ञान प्रमाण पद का वाच्य भी बनता है। ज्ञान के आकार की चर्चा वहीं सार्थक होती है जहाँ ज्ञान को विषयाकार का प्रतिरूपण कहा जाए। जो विषयाकार के ज्ञापक ज्ञान की वृत्ति को चित्त की अवस्था विशेष मानते हैं उनकी दृष्टि से प्रमाणभूत ज्ञान साकार होगा, किन्तु वहाँ भी प्रमाण–फलात्मक बोध या चैतन्य साकार नहीं होगा प्रत्युत आकार का द्रष्टा होगा। इस द्रष्टा को जो बोध–वृत्ति से अभिन्न उसमें व्याप्त स्वप्रकाशता मानते हैं उनके लिए अवश्य ज्ञान स्वसंवेदनयुक्त और साकार हो जाएगा।

वस्तु के साथ ही उसकी सत्ता का ग्राहक होने के कारण ज्ञान को स्वत:प्रमाण मानना चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान भ्रान्त नहीं हो सकता। ज्ञान के द्वारा गृहीत विषयास्तित्व सर्वव्यापी होता है। वह वास्तविक और अवास्तविक दोनों ही प्रकार के विषयों में उपलब्ध होता है। जहाँ उपलब्ध का आधार प्रत्यक्ष होता है वहीं विषय वास्तविक माना जाता है। यदि प्रत्यक्ष की साधनभूत इन्द्रियों में दोष हो तो उनकी गृहीत वस्तु–सत्ता भी अविश्वास्य होगी। ऐसे ही यदि विकल्प के द्वारा निर्धारित स्वरूप विकल्पगत भ्रान्ति के कारण आभास से असम्बद्ध या विरुद्ध हो जाता है तो विकल्पित विषय का अस्तित्व वस्तुगत न होगा। ज्ञान के स्वत:प्रमाण होने पर भ्रान्ति सम्भव रहती है, दूसरी ओर ज्ञान को स्वत:प्रमाण न मानने पर किसी और प्रकार से प्रामाण्य–निर्धारण सम्भव ही नहीं है। जिसे परत:प्रामाण्य कहते हैं उसमें ज्ञानान्तर की सहायता ली जाती है, किन्तु जब ज्ञान स्वत:प्रमाण है ही नहीं तो वह किसी दशा में प्रमाण न होगा।

यहाँ यह आपत्ति हो सकती है कि यदि प्रत्यक्ष के बिना वास्तविक अस्तित्व का पता नहीं चल सकता तो फिर ज्ञान, बोध, चित्त, आत्मा आदि विषयों का अथवा अदृश्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषयों का पता कैसे चल सकता है? ये इस प्रकार के सभी विषय सम्भावित मात्र से चरितार्थ नहीं होते हैं। ये वास्तविकता के साथ आधारता, कारणता आदि सम्बन्धों के कारण ही वास्तविक होने चाहिएं।

इसके उत्तर में पहली बात तो यह है कि प्रत्यक्ष को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित करना एक प्रायिक मान्यता मात्र है। प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूपत: साक्षात्कारी ज्ञान है जिसमें विषय विषयी के लिए अवव्यवहित होता है। अर्थात् विषय को प्रकाशित करने में ज्ञान किसी मध्यस्थ ज्ञापक का आश्रय नहीं लेता है, जैसे सविकल्पक ज्ञान में आभास, अनुमान, शब्द आदि का आश्रय लिया जाता है। इन्द्रिय-ज्ञान आभासात्मक प्रत्यक्ष होता है, अनुमान आदि से जन्य ज्ञान विकल्पात्मक होता है। प्रत्यक्ष-आभास और परोक्ष-विकल्प ज्ञान के ये दो सर्वविदित रूप हैं जिनमें आभास वस्तु-विषयक होता है, विकल्प परम्परया वस्तु-विषयक एवं साक्षात् सम्भाव्य विषयक। प्रश्न यह है कि क्या साक्षात् वस्तु-विषयक ज्ञान ऐन्द्रिय आभास के अतिरिक्त सम्भव है? जैसा ऊपर कहा गया, प्रत्यक्ष ज्ञान के स्वरूप में आभासमानता या इन्द्रिय-जन्यता कोई आवश्यक घटक नहीं हैं और न इन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान की उपाधि ही मानना चाहिए। इसका प्रमाण एक तो ज्ञान की स्वप्रकाशिता ही है। ज्ञान का ज्ञान ऐन्द्रिय आभास अथवा बुद्धि-विकल्प के द्वारा नहीं होता। उनमें ज्ञान का प्रमाण खोजना ज्ञान की अप्रामाणिकता ही प्रस्तुत करता है। ज्ञान की स्वत:प्रकाशता साक्षात्कारिता या अपरोक्षता का चरम उदाहरण है, जहाँ ज्ञान विषय या विषयाकार से रहित होने पर भी अपने विषय में असंदिग्ध होता है। इस चरम साक्षात्कारिता के तत्काल पृष्ठभावी विकल्प के रूप में ज्ञाता और ज्ञेय, चेतन और जड़ का भेद भी असंदिग्ध रूप से निर्धारित होता है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही वस्तु-बोधक प्रमाण और अनुमान आदि को सम्बन्धावच्छिन्न रूप से ही वस्तु-बोधक मानने पर ज्ञान को प्रमाणित करने का उनके अतिरिक्त और कोई साधन शेष नहीं रहता। विषयों के साथ विषयित्व, ज्ञातृत्व अथवा ज्ञापकत्व रूपी सम्बन्धों से ज्ञान की सत्ता सिद्ध करने के प्रयत्न में साध्य स्वयंसिद्ध रूप से विद्यमान रहता है। विषय का ज्ञान जिसे होता है वह विषयी अथवा ज्ञाता या प्रामाता है। किन्तु इससे ज्ञान का विषयमात्र से विलक्षण अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। यह अनुमान की सीमा है कि वह अपने निष्कर्ष में कोई ऐसी बात नहीं कह सकता जो प्रकारान्तर से पूर्वप्रदत्त न हो। दृष्ट विषयों से सर्वथा अदृष्ट विषय कथमपि अनुमेय नहीं हैं। यद्यपि कुछ दार्शनिक विषय के अन्दर ही ज्ञात और अज्ञात का भेद प्रतिपादित करते हैं, किन्तु यह ऐसा ही है जैसे अपनी सत्ता का अपनी छाया या प्रतिबिम्ब से अनुमान। ज्ञान न परोक्ष विषय है, न इन्द्रियगोचर विषय है। उसकी स्वप्रकाशिता के अभाव में दृश्यत्व-भाव ही असिद्ध रहेगा और उसके परिणामस्वरूप किसी भी विषय का ज्ञान सम्भव नहीं होगा। विषय का ज्ञान एक विषय से दूसरे विषय का सम्बन्ध नहीं है, वह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय का अविषय विषयी से सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध भी स्वयं विषय नहीं बनता। समस्त विषयों का जगत् इस विलक्षण विषयिता के अभाव में अन्धकारमय हो जाएगा।

रूप, रस, गन्ध आदि संवेद्य विशेष गुण क्या आँख, जिह्वा, नासिका आदि के अभाव में कुछ अर्थ रख सकते हैं? यदि कहा जाए कि रूप है, इसलिए हम उसे देखते हैं, हम नहीं देखेंगे तो भी रूप बना रहेगा। तो यह कहना होगा कि संवेदनगत रूप और प्रकाश-तरंगात्मक रूप एक नहीं हैं। प्रकाश-तरंगों का दृश्य रूप के जनक-हेतु के रूप में निर्धारण उपकरणों और गणित के सहारे होता है, किन्तु ये भी आँख को मानकर ही प्रवृत्त होते हैं? अपने आप में प्रकाश का स्वरूप क्या है? ऊर्जा का वह रूप जिसके कुछ साधारण गुण गणित के समीकरणों में मिलते हैं? क्या उस ऊर्जा का स्वरूप वही है जो आँख को दिखायी देता है? महाकाश में प्रकाश की ऊर्जा और अविज्ञात भूत की ऊर्जा के बीच के सम्बन्ध का जितना विश्लेषण हो पायेगा वह सब आँख के अनुभव को स्वीकार करने पर ही सम्भव होगा। वह विशेष गुण से परिचायित वस्तु के साधारण गुणों का विश्लेषण है। साधारण और विशेष गुण, द्रव्य और ऊर्जा आदि पदार्थ-कल्पनाएँ प्रत्यक्ष न होकर विकल्प-ज्ञान के खाँचे हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के तत्त्वों को हटाकर विषय सर्वथा अवक्तव्य बन जाता है।

इस दृष्टि से यद्यपि बाहरी जगत् की सत्ता ठोस दीखती है, वह ज्ञान के प्रकाश में ही विधेयत्व या परिच्छेद्यत्व का लाभ करती है। तब फिर ज्ञान का अस्तित्व कैसे असन्दिग्ध हो सकता है और ज्ञान कैसे अपने दृश्य जगत् का एक खण्ड बन सकता है? अपनी और जगत् की सत्ता प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही उस प्रकाशात्मक प्रत्यक्ष का मौलिक रूप है, किन्तु ज्ञान की साक्षात्कारिता निष्क्रिय नहीं है। विचार पूर्वत: अप्रकाशित तत्त्वों को सूचित करता है। यदि प्रकाश ज्ञान का पहला चरण है तो विमर्श उसके अव्यक्त मर्म को उद्घाटित करता है।

सीमित प्रत्यक्ष के स्थल में विमर्शात्मक ज्ञान परोक्ष और विकल्प-योजित होता है। ये दोनों ज्ञान के प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष एक-दूसरे के पूरक होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तु की सूचना होती है, परोक्ष ज्ञान में उसके सम्बन्ध-सन्दर्भ में उसकी व्याख्या होती है, और वस्तु-जगत् अनन्त सम्भाव्य विश्व का एक काल-प्रवाही खण्ड प्रतीत होता है। किन्तु ज्ञान की इन दो विधाओं का विभाजन आत्यन्तिक नहीं है। ऊपर ज्ञान के उदाहरण से यह उपपादित किया गया था कि साक्षात्कार ऐन्द्रिय विषयों का न होते हुए भी अतीन्द्रिय विषयों का हो सकता है। विचार-विमर्श उसका सहज धर्म है। जहाँ परिच्छिन्न प्रकाश या साक्षात्कार होता है वहाँ विचार-विमर्श ज्ञान में ऐसे ही विषयों की प्राणभूत परिच्छिन्नता को एक ऐसी विच्छिन्नता के रूप में प्रकट करता है जिससे ज्ञानमें अन्तर्निहित एक अव्यक्त सम्पूर्णता का भाव सिद्ध होता है। यद्यपि साँव्यावहारिक प्रत्यक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और परोक्ष ज्ञान विषयों को सीमित ही पाते हैं, उन्हें वे एक बृहत्तर अस्तित्व के निषेध के रूप में देखते हैं। विधि-रूप सत्ता का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है किन्तु एक परिच्छिन्न रूप में उसका विकल्प-ज्ञान अभाव के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। यह अभाव का ज्ञान सत्ता के ज्ञान का अभाव नहीं है, न अभाव किसी प्रकार का भाव है, न अभाव की ओर से आँख मूँदी जा सकती है। जैसे सत्ता, भाव या विधि का ज्ञान प्रत्यक्ष में स्वरूप-निहित है ऐसे ही अभाव या निषेध का ज्ञान विमर्श या विकल्प में स्वत:निहित है। यह अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष न होते हुए भी ज्ञान के प्रासाद में सत्ता का सहभागी है।

इसी प्रकार वस्तुसत्-पदार्थों की नियमाधीनता उनके विज्ञान की एक अनिवार्य शर्त है, किन्तु नियम प्रत्यक्षगोचर विषय नहीं हैं। वे विचारगोचर होते हुए भी वस्तु-सत्ता पर हावी होते हैं। नियम को बुद्धिगोचरयुक्तता के रूप में ही समझा जा सकता है, किन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि वस्तु-नियामक हेतु स्वयं अवस्तु नहीं हो सकता। जगत् के नियामक हेतु बुद्धिगोचर पदार्थ होने के साथ ही वास्तविक भी होने चाहिएं। अन्यथा वे वस्तुओं के प्रति आगन्तुक हो जाएंगे या हेतुता-रहित व्यावृत्तियाँ मात्र।

इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान की दोनों विधाएँ एक ही विश्व की सूचना देती हैं जो दैशिक और कालिक जगत् तक सीमित नहीं है। प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से अधिक व्यापक है और परोक्ष सम्भाव्यता, अप्रत्यक्ष वास्तविकता एवं अभाव की सूचना देता है। एक ओर ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सूचित वास्तविकता का स्वरूप सन्देह का विषय होता है दूसरी ओर स्वयं इन्द्रियों का स्वरूप भी। विषय-पक्ष में जो असंदिग्ध वस्तु है वह रूप-रसादि संवेद हैं। इन संवेदों को सामान्य संज्ञान भौतिक अवयवियों के धर्म मानता है। यदि रंग दिखायी देता है तो वह किन्हीं प्रकाश-किरणों को प्रतिफलित करने वाले द्रव्यों का गुण है। किन्तु संवेद्य धर्मों के आधारभूत धर्मियों के रूप में कल्पित भौतिक और ऊर्जात्मक पदार्थ की सत्ता भी अन्ततः उन रूपादि धर्मों के द्वारा ही परिभाषित होती है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के विश्व को संवेद और उनके हेतु, इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है। ये हेतु प्रत्यक्ष-प्रदत्त न होकर अनुमान से प्रमाणित और विकल्पगोचर होते हैं। रस का प्रत्यक्ष होता है, उसका आश्रयभूत जलात्मक धर्मी अनेक प्रत्यक्षों के संयोग-वियोग से विकल्पित होता है। जहाँ तक जल की सत्ता प्रत्यक्ष है वह संवेद्य धर्मों के द्वारा ही है। इससे स्पष्ट होगा कि केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर तात्कालिक प्रतिभासों के रूप-रसादि की सत्ता का ही अस्तित्व सिद्ध होता है, उनसे अतिरिक्त बाह्य वस्तु-विश्व की सत्ता अनुमान के द्वारा विकल्पित विषय के रूप में ही सिद्ध होती है। जो हम देखते-सुनते हैं वह हमारे देखने-सुनने से स्वतन्त्र देखने-सुनने का आधार है और हमारी क्षणिक प्रतीतियों में संगत व्यवस्था का हेतु होने के कारण वह देशकाल में अवस्थित नियत-स्वभाववान् भी होना चाहिए। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और हेतुमूलक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुमान के संयुक्त अभियान से जो दृश्य और परिमेय-संख्येय नियत वस्तु-विश्व विकल्पित होता है वह सिर्फ संवेदन की स्पर्श-रेखा में ही प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। उसका शेष विराट् रूप बढ़ते ज्ञान के विस्तार के साथ ही अधिकाधिक अज्ञात सिद्ध हो रहा है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि रूप-रसादि संवेद्य तो प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं, शेष वस्तु-जगत् अनुमान मात्र है, जिसके सत्य की वैज्ञानिक कसौटी या तो व्यावहारिक सफलता है या तर्क-बुद्धि के विकल्पों की अन्त:संगति। इस अन्त:संगति का आधार केवल विकल्पात्मक प्रतिपत्तियों का पारस्पिरक अविरोध ही नहीं अपितु उनका प्रत्यक्षलभ्य एकार्थ समवायित्व भी है। वैज्ञानिक चिन्तन गणितीय समीकरणों के साथ ही मूल तत्त्वों और कारणों की परस्पर प्रतिवर्तनीयता के द्वारा उन्हें न्यूनतम अखण्ड हेतुओं में विभक्त करता है। समस्त विश्व एक बुद्धि-संगत और समन्वित हेतुमूलक इकाई है, यह आदर्श कल्पना किसी प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं हो सकती। यह समस्त ज्ञान-व्यवहार में अन्तर्भूत आदर्श है जो न किसी प्रकार की भौतिक चेष्टा में अपचेय है न उनके विदित भौतिक धर्मों से उत्पाद्य है। जो सार्थक प्रवृत्ति जैविक ज्ञान-व्यवहार में विकसित होती है उसके अव्यक्त निर्देशक के रूप में यह ज्ञान का आदर्श भी है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य अथवा देहि-प्रमाता विशेषों में सामान्य, कार्यों में कारण और विरोधों में अविरोध खोजता है। इन्द्रिय-जीवी पशु भी प्रत्यक्ष संवेद्यों को अप्रत्यक्ष अर्थों से जोड़कर यह सिद्ध करते हैं कि बाह्य व्यवहार में वस्तु के अभाव में भी बोध ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का अतिक्रमण करता है। पालतू और सुशिक्षित कुत्ते गन्ध के तात्कालिक संवेद से बहुत दूर तक की पहचान प्राप्त कर लेते हैं। जो वस्तु उनके सम्मुख प्रस्तुत नहीं है उसका उन्हें बोध हो जाता है। इस बोध का कारण पूर्व संवेदन और शिक्षा के संस्कार हो सकते हैं, किन्तु इससे यह बात नहीं बदलती कि उन्हें ऐसे स्थलों में जिस वस्तु का बोध होता है वह उस समय प्रत्यक्ष संवेद्य नहीं होती। ध्वनि, गंध और रूप रंग आदि के संवेदन में पशु भी बिना शब्द और अन्य संकेतों के न सिर्फ संवेद्य से परे धर्मियों को और अवयवियों को पहचानते हैं अपितु वे उन संवेद्यों के प्रत्यक्ष में हानोपादान-बोध भी प्रदर्शित करते हैं। 'हरी घास को हाथ में लिये मनुष्य के निकट गाय आती है, यदि वह डण्डा लिये हो तो वह दूर हट जाती है।' 'लड़ाई का घोड़ा अपने प्राण की रक्षा न करते हुए अपने सवार की रक्षा के लिए प्रयत्न करता है।' ऐसे सब स्थलों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा व्यवहार में प्रवृत्त प्राणि में बिना भाषा और विकल्प के भी अप्रस्तुत विषयक बोध एक प्रकार के अतीन्द्रिय बोध का परिचय देता है, जो मनुष्यों में मानसिक बोध कहलाता है।

मानसिक बोध परोक्ष ज्ञान के रूप में तो सुविदित है, किन्तु यह एक चिरन्तन प्रश्न रहा है कि क्या मन में भी अपरोक्ष ज्ञान की शक्ति है? क्या मानस प्रत्यक्ष सम्भव है? जैसा ऊपर कहा गया था कि मन क्या है तथा उसका मस्तिष्क से क्या सम्बन्ध है, इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर अनेक मत प्रतिपादित किये गये हैं। उन पर पूरा विचार किये बिना भी यह निश्चित है कि मानसिक बोध का विवरण उन शब्दों और संकेतों के द्वारा नहीं किया जा सकता जिनसे मस्तिष्कीय स्नायुओं का संचरण अथवा दैहिक चेष्टाओं का वर्णन किया जा सकता है। 'वह भूखा है' तथा 'उसके पेट में सिकुड़न हो रही है और अंग ढीले हो रहे हैं' इन दोनों वाक्यों का अर्थ एक नहीं है। 'वह एक दृश्य देख रहा है', 'उसकी आँखों से मस्तिष्क तक प्रकाश-तरंगों की प्रतिक्रिया हो रही है' ये दो वाक्य भी इसी प्रकार दो समानान्तर घटनाओं को बताते हैं जिनमें एक घटना द्रष्टा के लिए ही होती है, दूसरी सबके लिए प्रत्यक्ष है। इस प्रकार यह निश्चित है कि मन की देह और मस्तिष्क के समानान्तर एक पृथक् सत्ता स्वीकार करनी होगी, जिसकी विषयवस्तु में ज्ञान, इच्छा, भाव आदि रखे जाते हैं। ज्ञान अपने अनेक भेदों में प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रमा और भ्रम रूप से मन की वृत्ति अथवा मानसिक बोध के रूप में अवस्थित रहता है। यह सारी मनोबोध की वृत्तियाँ सविषयक होती हैं और उनकी सविषयता उन्हें दैहिक, भौतिक विषयों से वैसे ही पृथक् करती है जैसे उनकी द्रष्टा से अपरोक्षता। द्रष्टा की अपरोक्ष विषयज्ञापक वृत्तियाँ जहाँ विषयाकारित अथवा विषयाकार-सूचक होती हैं वहीं वे अपरोक्षता के प्रकार होने के कारण स्वयं भी विषय होती हैं और बोधगत विषय-वस्तु के द्वारा पहिचानी जाती हैं। 'घाटी हरी भरी है', 'मौसम सुहाना है', 'उसका आचरण शोचनीय है', 'मैं चाहता हूँ कि यह राजसत्ता पलट जाए' इत्यादि वाक्यों की विषय-वस्तु विभिन्न बोध-वृत्तियों की अलग-अलग परिचायक है। ये बोध-वृत्तियाँ न सिर्फ बोध के अपने पृथक् बाहरी विषयों की ज्ञापक हैं अपितु वे स्वयं भी बोध के द्रष्टा की विषय हैं। यह जो बोधवृत्तियों का एवं उनको विशेषित करने वाली विषय-वस्तु का तादात्म्य ज्ञान है यह साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्ष ही कहा जा सकता है। इस प्रकार सभी ज्ञान में मानस प्रत्यक्ष अगत्या रहता है। अन्यथा विषयों के व्यवहर्ता को अपनी देह और बाह्य विषयों की विषयिभिन्नतया प्रतीति नहीं होती और न प्रतीति का ही विषय-भिन्नतया बोध होता। स्मृति का प्रश्न ही नहीं उठता, न काल-भेद का ज्ञान होता। किन्तु पशुओं में भी ये बोध पाये जाते हैं, जैसाकि ऊपर संकेत किया गया है।

न सिर्फ हम दैहिक-भौतिक बाहरी जगत् का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष करते हैं अपितु उससे संपृक्त और समानान्तर एक प्रतीतिमय विश्व में भी रहते हैं। संवेद्य धर्म और विकल्पित विषय उभयचारी प्राणयों के समान इस आन्तर-बाह्य विश्व के निवासी हैं। एक दृष्टि से वे ठोस बाहरी जगत् की छायाएँ हैं, दूसरी दृष्टि से ठोस बाहरी जगत् स्वयं एक अवभास है। पर मानसिक प्रत्यक्ष का विषय तब भी बना रहता है जब हम बाहरी विश्व को मन से स्वतन्त्र कर देते हैं। बौद्ध पदावली में विज्ञान, सम्प्रयुक्त और विप्रयुक्त धर्म-स्वभाव और असंस्कृत के अतिरिक्त समाधिजन्य योगिप्रत्यक्ष भी मानस प्रत्यक्ष के अन्दर आता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इनमें स्वसंवेदन और प्रत्यवेक्षा मानसिक प्रत्यक्ष के सर्वविदित प्रकार हैं। प्रत्यक्ष सर्व-सम्मत न होते हुए भी बहुतों के अनुभव से समर्थित है, पर-चित्त-ज्ञान, विप्रकृष्ट देशकाल में अवस्थित विषयों का ज्ञान असाधारण अवश्य हैं किन्तु अविदित नहीं हैं। कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने यह भी उपपादित करने का प्रयत्न किया है कि सभी मनुष्यों में परोक्ष विषयों का सम्भावनात्मक ज्ञान सिर्फ काल्पनिक नहीं कहा जा सकता, उसमें सत्यता का प्रतिशत दिखलाता है कि मन में परोक्ष विषयों के प्रत्यक्ष ज्ञान की क्षमता है।

मानस प्रत्यक्ष सन्देहास्पद होते हुए भी उसकी जो सबसे महत्त्वपूर्ण विधा है वह है समाधिजन्य प्रत्यक्ष, जिसके आधार पर अतीन्द्रिय तत्त्व प्रमाणित होते हैं। इस प्रकार के प्रमाण का आधार चित्त की सहज शक्ति है जो निर्मल चित्त में प्रकाशित होती है। यह चैत्त विज्ञान अनुभवमूलक होने के कारण तर्क मात्र से सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु भारतीय साधना-परम्परा में चित्त में समाधि की क्षमता का प्राय: स्वीकार किया जाता है।

प्रातिभ ज्ञान के भी असंदिग्ध उदाहरण विदित हैं। गणित और कला के तत्त्वों के विषय में इस प्रकार का अशिक्षित और तात्कालिक ज्ञान प्रतिभाशाली लोगों में देखा जाता है। रामानुजम् जैसे महागणितज्ञ से लेकर उन दो जुड़वाँ अमेरिकी भाइयों तक में यह लक्षित होता है जो बड़े से बड़े प्राईम नंबर को तत्काल देख लेते थे । गणित में प्रातिभ ज्ञान का प्रचलन मिलता है।

गणितीय और सृजनात्मक प्रतिभा को छोड़कर मानसिक प्रत्यक्ष के अन्य क्षेत्रों में, जहाँ वह इन्द्रियगोचर विषयों के साक्षात्कार का दावा करता है, वहाँ संशय की स्थिति इसलिए बनी रहती है क्योंकि वह असाधारण अनुभवों के विवरण पर आधारित होता है। यहाँ पर प्रकारान्तर से शब्द-प्रमाण का प्रश्न उठ खड़ा होता है।

क्या ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त शब्द भी एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जा सकता है? जहाँ तक मानसिक प्रत्यक्ष का प्रश्न है, उसके साधारण रूपों के अतिरिक्त जो अन्य विधाएँ हैं उनमें चमत्कारिता के कारण दूसरों के कथन पर विश्वास को ही प्रमाण मानना पड़ता है। समाधि का समानान्तर स्थान विश्वजनीन धार्मिक परम्पराओं में शब्द-प्रमाण और श्रद्धा के रूप में मिलता है। शब्द-प्रयोग या भाषा की भूमिका ज्ञान की सहकारी के रूप में असंदिग्ध है। ज्ञानानुसंधान में अनुभवों के स्मरण और पृथक् पहचान के लिए वाचिक चिह्न प्रयुक्त होते हैं। किन्तु इससे अधिक ज्ञात विषयों के पदार्थ-विभाजन एवं उनके विभिन्न अनुभवों के तुलनात्मक संश्लेषण-विश्लेषण के लिए भाषा प्रयुक्त होती है। भाषा के बिना सोचना या सोच का सम्प्रेषण कठिन है, किन्तु तो भी भाषा को ज्ञान से अभिन्न नहीं कहा जा सकता। ज्ञान के अनुसार ही भाषा का प्रयोग होता है न कि भाषा के अनुसार ज्ञान का। एक भाषा से दूसरी भाषा के अनुवाद से सिद्ध होता है कि ज्ञान भाषा के अतिरिक्त है। फलत: भाषा को हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान का अन्तरंग साधन मान सकते हैं, किन्तु यह साधन उपलब्ध ज्ञान को व्यवस्थापित करता है, स्वयं उसकी सृष्टि नहीं करता। फलत: शब्द स्वयं प्रमाण न होकर प्रमाणोपकारी सिद्ध होता है। किन्तु आस्तिक्य मूलक धर्मों में ईश्वर-सन्देश के रूप में आगमिक शब्दों को परोक्षार्थ के विषय में प्रमाण माना जाता है। इसका आधार इन सन्देशों को प्रचारित करने वाले असाधारण मनुष्यों पर श्रद्धा ही मुख्यत: है। जैसे कोई आप्त पुरुष अज्ञात अर्थों को बता सकता है ऐसे ही ईश्वर भी, किन्तु ईश्वर का आगम के अतिरिक्त निश्चित प्रामाण्य भी तार्किक विवादों के घेरे में रहता है।

वस्तुत: भाषा सिर्फ ध्वन्यात्मक चिह्नों का उपयोग नहीं है। वह मूलत: ज्ञान की अध्यवसायात्मिका या विमर्शात्मिका वृत्ति है जो अपनी सुविधा के लिए ध्वनियों अथवा ध्वनिबिम्बों को चिह्नों के रूप में प्रयुक्त करती है। भाषा का मूल मन की ज्ञान-वृत्ति में है, वह किसी बाहरी व्यवहार, समझौता या प्रत्यक्ष के स्मृति-संस्कार का नाम नहीं है। इस प्रकार के तत्त्व भाषा के सहायक होते हैं और भाषा के ही प्रयोजन के अनुरूप बनाए और छोड़े जाते हैं। यदि प्रत्यक्ष एक आभासीय संवेद्य मात्र में विश्रान्त हो जाता तो बाह्य वस्तुओं का बुद्धि-संगत और सम्प्रेषणीय ज्ञान उतपन्न ही नहीं होता। ऐन्द्रिय आभासों को ज्ञान पद तक ले जाने के लिए भाषा ही साधन बनती है। यदि सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक से अधिक समृद्ध ज्ञान है तो यह भाषा के प्रयोग के कारण ही है, और उस प्रयोग में चिह्नों के साथ अध्यवसाय जुड़कर विकल्पों की सृष्टि करता है। संक्षेप में, ज्ञान को मुँह के स्वादन के दर्जे से उठाकर विचार के दर्जे पर अभिषिक्त करना भाषा का ही कार्य है तो फिर यदि ऐन्द्रिय आभास प्रमाण है तो विकल्पात्मक भाषा क्यों नहीं, जिस पर विचार आरूढ़ होता है?

किन्तु जैसे ज्ञान की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में मानसिक प्रत्यक्ष का प्रश्न समाहित नहीं होता है ऐसे ही भाषा की ज्ञान में तार्किक उपयोगिता से शब्द-प्रमाण का प्रश्न समाहित नहीं होता। मनोवैज्ञानिक भूमि में अवश्य ही एक अन्त:परामर्शात्मक अनैन्द्रिय प्रत्यक्ष रहता है, किन्तु उससे वस्तु-जगत् के ज्ञान में मन की कोई स्वतन्त्र भूमिका सिद्ध नहीं होती। ऐसे ही सविकल्पक ज्ञान में भाषा की रचनात्मक भूमिका रहती है, किन्तु भाषा के ही ज्ञान से अथवा भाषा-उपयोग मात्रा से ज्ञान अपने वास्तविक विषयों में कृत-कृत्य नहीं होता। क्या कोई व्यक्ति के अपने अनुभवार्जित और तार्किक ज्ञान के अतिक्रामी अर्थों को बतलाने वाली अन्तरवाणी भी है जिसे 'आगम', 'ईश्वरोपदेश' अथवा 'निश्चयात्मक प्रातिभ ज्ञान' विभिन्न दृष्टियों से कहा गया है और जिसके श्रोताओं और वक्ताओं को श्रद्धा-विश्वास के योग्य आप्त पुरुष, ऋषि-मुनि, नबी या अवतार कहा जाता है? जैसे बाहरी जगत् के ज्ञान में उसकी नियमाधीनता का ज्ञान बुद्धि की स्वतन्त्र स्फूर्ति अथवा सहज प्रतिभा से होता है और जो प्रत्यक्ष जगत् को प्रत्यक्षातिक्रामी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बुद्धि-संगति से जोड़ता है ऐसे ही मानव-चरित्र और कर्मों के प्रत्यक्ष ज्ञान में एक सहज धर्म-बुद्धि सद् और असद् का विवेक करती है। चरित्र और आचार का मानव-सन्दर्भ में बोध बाहरी विषयों के तर्क के बोध के समान तटस्थ नहीं होता। वैसे तो यह भी संदिग्ध है कि बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष-बोध या उनका विचारात्मक बोध तटस्थ मात्र होता है। व्यावहारिक ज्ञान सप्रयोजन होता है और ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषयों में सुन्दरता-असुन्दरता, प्रीतिकरता, अप्रीतिकरता के आयाम जुड़े रहते हैं। बाहरी विश्व का यह समग्र रूप सामान्य मनुष्य और कवि-मानस दोनों ही स्पष्टता से देखते हैं। हाँ एक विशेष दृष्टि से प्रशिक्षित और विशेष प्रयोजन के अनुसंधान में वैज्ञानिक इन वस्तुओं को सर्वथा अचेतन और प्राण-शून्यता तथा प्राणि-निरपेक्षता से परिभाषित करते हैं जैसे एक सेनापति सैनिकों को मनुष्य न देखकर संहार-यन्त्र ही देखता है। तथापि यह असंदिग्ध है कि मानवीय सामाजिक बोध के स्तर पर मानव-ज्ञान में एक आयाम धर्म अथवा सदसद्-विवेक का रहता है और वही नित्य विधि के रूपों का आधार बनता है।

इस तरह के विवेक अथवा धर्म-बुद्धि का आधार दृष्ट परिणामों का आकलन नहीं हो सकता। क्योंकि वे परिणाम न पूरी तौर से पकड़ में आते हैं न नाना मनुष्यों को प्रभावित करते हुए वे संकलित किये जा सकते हैं। किसी विशेष व्यक्ति अथवा व्यवस्थित समूह की दृष्टि से उपयोगिता का विचार किया जा सकता है और वही नीति के रूप में प्रसिद्ध होता है। विश्व-मानव के लिए सनातन नीति तो विवेक-बुद्धि से उपजती है। सनातन नीति और सनातन धर्म को बतलाने वाला प्रातिभ ज्ञान जिस आदेशात्मक या नियामक वाणी से व्यक्त होता है उसे एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना अपरिहार्य है। वह निरनुबन्ध विधि-दृष्ट हेतुओं पर आधारित नहीं हो सकती। वह सहज ज्ञान का प्रकार है,किन्तु ऐसा सहज ज्ञान जो कि अव्यक्त न होकर भाषा में स्पष्ट प्रकाशित होता है। यह धर्म का ज्ञान देने वाली वाक् ही शब्द-प्रमाण है। इसके मूल में शुद्ध बुद्धि है, आत्मा है, ईश्वर है अथवा वह स्वयं नित्य है, ये प्रश्न गम्भीर मीमांसा के प्रश्न उद्भावित करते हैं।

क्रमशः ... ..

ए-९०, अलकापुरी,
भेल, भोपाल-४६२ ०२४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्या है, क्या नहीं है? – एक बातचीत

दूसरी बैठक

मुकुन्द लाठ

सिद्धर्षि, अनुभूति, पृथु, आकाश और शिखा उसी आँगन में बैठे हैं जहां पिछली बातचीत हुई थी। यह पिछली बातचीत के कोई दो-तीन दिन बाद की बात है।

शिखा : पिछली बार मैंने कहा था, मैं अनुभूति से अलग कुछ कहना चाहती हूं। तब से कुछ कुछ सोच भी रही हूं। कई विचार आते रहे हैं, एक दूसरे को काटते हुए चले भी जाते हैं। पर एक सोच बनी है, उसे आगे रखूंगी। सोचने के बारे में ही कुछ कहना चाहती हूं।

अनुभूति भावुक है, उसने प्रेम को बड़ा विराट् रूप दे दिया है, पृथु के आकाश से भी बड़ा – क्योंकि अनुभूति के लिये पृथु का आकाश अगर है भी तो प्रेम के बिना कुछ नहीं : प्रेम के बिना आकाश का ही क्या, किसी भी कुछ का होना-नहीं होना दोनों बेमानी हैं, सब काल के ग्रास हैं – सब भंगुर हैं, होते ही नहीं होने में ढल जाते हैं, उनका होता रहना नहीं होते रहने से अलग कुछ नहीं है। सार्थक हममें प्रेम है, क्योंकि वास्तव में 'है' वही जो सार्थक है, वह काल के होते रहने के न-होने जैसे प्रवाह से ऊपर उठ सकता है, सचमुच कुछ होने की ओर स्वतन्त्र बढ़ सकता है। और ऐसा प्रेम ही हो सकता है। हमारे भीतर हमें क्या होना चाहिये की प्रेरणा बन कर जागता है प्रेम। वही विचार को भी जगाता है। विचार हममें प्रेम के आदर्श को जगाये रखता है।

लेकिन क्या है यह प्रेम? मेरी ठीक पकड़ में नहीं आया। जिसे हम आम तौर पर प्रेम कहते हैं, यह प्रेम वह तो नहीं हो सकता जिसकी अनुभूति ने बात की। हमारे सामने होता प्रेम तो डाह, जलन, ईर्ष्या, स्वार्थ से डसा रहता है। हीर-राँझा को किसने देखा है, पर हमारे पड़ोस में एक लड़का एक लड़की को इतना चाहने लगा कि उसके बिना जी नहीं सकता था। लड़की को उससे प्रेम नहीं था – सीधी सी भली सी लड़की थी, जिसको कहते हैं 'सुशील' : घरवालों की सुनती थी, सब की और घर की साज-सँभाल रखती थी। स्वभाव की भी साफ़ थी, बेलाग-लपेट। उसने लड़के को समझाया कि पागल न बने। कहा कि, उसके घरवाले राज़ी हों तो लड़के से शादी कर लेगी। पर घरवालों को लड़का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पागल ही लगता था, फिर था भी बड़े मामूली परिवार का, जात-पाँत का भी भेद था। तो हुआ वही जो तुम समझ गये होगे – लड़की की कहीं और शादी हो गई। लड़के ने बड़ा बवाल मचाया, लड़की को धमकी दी, कुछ कर बैठने की भी कोशिश की, आत्महत्या भी करनी चाही, लड़की के घर के आगे। ग़नीमत है कि कुछ हुआ नहीं। अब लड़के का प्रेम-रोग मिट गया है, शादी हो गई है, बच्चे भी हैं, जिनको लिये ख़ुश ख़ुश खेलता दिखता रहता है। उधर लड़की अपने घर ख़ुश है। प्रेम समाप्त, जीवन शुरु - जिसे, सिद्धर्षि, तुम व्यवहार कहते हो, जो एक चलता-हुआ सा सुख एक सयानेपन के साथ साधता रहता है। और सच पूछो तो सयानेपन से ही व्यवहार की चाल बनी रहती है। प्रेम तो उस व्यवहार की गति का दुश्मन है। आँधी की तरह आता और सब कुछ बिखेरता निकल जाता है। पर सयानेपन की धरती बनी रहती है। जो कहानी सुनाई, उसमें भी देखो कोई बिगाड़ नहीं हुआ। पर यह भी सोचो कि अगर प्रेम की जीत होती – दोनों की शादी हो जाती – तो क्या दोनों के जीवन में, व्यवहार में, कोई काल-से-ऊपर-जागती अनहोनी प्रेरणा आ समाती? वही आठ पहर की सांस : खाना-पीना-सोना, वही स्वार्थ, वही हमाहमी और इसके लिये झख मारना - व्यवहार की वही पुरानी, सदा-सर्वदा की चाल ही तो बनी रहती! इनके भीतर एक सयानापन बना रहता है जो व्यवहार की साँस है। अनुभूति कह रही थी कि व्यवहार के होते रहने के भीतर ही एक 'होना चाहिये' समाया रहता है – व्यवहार का प्राण कोई आदर्श होता है जो कि व्यवहार अपने होने में ही साधता चलता है। बात में सच है, पर दाल-रोटी में नमक जितना ही। हमारे भीतर –बहुत भीतर – एक चाह है कि व्यवहार ऊपर उठे, आकाश की चोटियाँ लाँघे, पर चलता वह उसी घिसी-पिटी लीक पर है – हम ही उसे यों चलाते हैं। तुलसीदास जी के प्रेम की कहानी सुनी है? प्रेम ने तुलसीदास की मिट्टी को – उनके व्यवहार के अदना से 'है' को - काल की कालिख से ऊपर उठा कर 'क्या होना चाहिये' का खरा, दमकता सोना बना दिया! पर क्या हुआ उससे? हम तो वहीं के वहीं हैं – व्यवहार की मिट्टी वही मिट्टी है। हम जिसे प्रेम कहते हैं – हमारे पड़ोस की शानो और बुल्लू का प्रेम - उसकी सपाट धरती 'होना चाहिये' के आकाश से उतनी ही दूर है जैसी हमेशा थी। सिद्धर्षि ठीक ही व्यवहार को सब कुछ बताता है – हमारा 'है' कहो या 'होना चाहिये' कहो, सबकी पहचान, सबकी लक्ष्मणरेखा, व्यवहार ही है। हमारा जानना, सोचना, करना, हमारी भावना, सब उससे बँधे हैं। हम वहां जो साधते हैं, एक सयानापन ही साधते हैं – इससे ऊपर कुछ और नहीं।

पर, हां, सोचने में - विचार में - एक स्वतन्त्रता है – तभी मैं यह सब कुछ कह पा रही हूं। तभी विचार हमारे आदर्शों का – 'हमें क्या होना चाहिये' का – झंडा ऊँचा रखता है। अनुभूति यों ही देख रही थी विचार को। वह जिसे प्रेम कह रही है उसे हम अपना आदर्श-बोध समझ सकते हैं – आदर्श को चाहे जैसे समझें, क्योंकि आदर्श एक नहीं होता। पर होता है। कहीं जागता है हममें – उसके बिना भी हम नहीं होते। अब हम जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहां कर रहे हैं — 'क्या है' की जिज्ञासा कर रहे हैं - यह जिज्ञासा भी तो एक आदर्श ही है कि हमें सत्य को जानना चाहिये। इस आदर्श पर हम विचार ही नहीं करते, उसे विचार से ही बनाये रखते हैं, विचार न हो तो आदर्श जैसा कुछ हममें बना ही कैसे रह सकता है? आदर्श इस पेड़ की तरह, उस चिड़िया की तरह तो नहीं है कि अपने आप में है — हमारे विचार से स्वतन्त्र खड़ा रहे या उड़ता रहे। यही कह रही थी अनुभूति।

पर ये पेड़ और चिड़िया भी क्या विचार के बिना *हैं*? विचार के बिना आदर्श की ही क्या, किसी भी होने की बात कैसे हो सकती है? मैं तो कहूंगी कि विचार का सच्चा काम, उसका अपना काम आदर्श को बनाये रखना नहीं है। उसका सच्चा और पहला संबंध ज्ञान से है — 'क्या है' से है, 'क्या होना चाहिये' से नहीं। यों भी किसी 'है' के बिना किसी 'होना चाहिये' की बात ही कैसे उठ सकती है? और 'क्या है' को जानने का काम ज्ञान का है, आदर्श का नहीं, चाहे जिज्ञासा — 'हममें ज्ञान की खोज होनी चाहिये' - यह भी एक आदर्श ही क्यों न हो। और ज्ञान विचार के बिना नहीं होता। फिर यह भी सोचो कि विचार के लिये आदर्श का भी एक 'क्या है' होता है - हम पूछते हैं कि आदर्श क्या है? आदर्श क्या होना चाहिये, यह बाद की बात होती है — पहले यह सामने आये कि आदर्श है क्या, तो फिर हम विचार से परख सकते हैं कि क्या यह वैसा ही है जैसा होना चाहिये? अनुभूति ने प्रेम का आदर्श सामने रखा है - या यों कहें कि रखना चाहा है, क्योंकि प्रेम क्या है, यह उसने व्यंजना ही पर छोड़ दिया, खोल कर सामने नहीं रखा। हमें पहले समझना होगा कि प्रेम है क्या, तभी हम तय कर पायेंगे कि वह आदर्श होने के लायक है या नहीं, उसे आदर्श होना चाहिये या नहीं? इस 'क्या है' को जानना, यही ज्ञान है, और विचार इस काम में ज्ञान का अंतरंग है। बल्कि उससे भी बढ़ कर है — हममें विचार करने का स्वभाव न होता तो हमारे लिये ज्ञान का भी कोई अर्थ नहीं होता। ज्ञान क्या है? — कुछ 'है', यह बोध ही तो ज्ञान है। पर विचार से ही 'जो *है* वह *क्या* है', इसका निर्णय होता है, विचार से ही वह सच या झूठ ठहर सकता है। 'क्या है' का और सच-झूठ का निश्चय विचार करता है, ज्ञान नहीं — हालांकि पिछली बार मुझे ज्ञान के भीतर ही सच-झूठ की कसौटी दिख रही थी।

(कुछ रुक कर) मैंने बहुत सोचा तो यह सामने आया कि ज्ञान और ज्ञान की मांग, विचार का ही - या विचार-चेतना का कहो — अमिट स्वभाव है; हम स्वभाव से ज्ञान के प्यासे हैं, जिज्ञासु हैं, पर इसीलिये कि हममें विचार है। ज्ञान स्वभाव से ही वस्तु को पकड़ना चाहता है, पर ज्ञान विचार का ही स्वभाव है — विचार से अलग ज्ञान की बात समझ में नहीं आती। यों भी विचार की हां-ना के बिना ज्ञान ज्ञान नहीं होता। हमारे सामने, हमारे बोध की आँखों के आगे, कुछ कुछ निरंतर होता रहता है — हमें लगता रहता है कि 'यह है', 'वह है'। पर जैसा अनुभूति ने कहा, बात लगने की ही है, होने की नहीं — जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लगता है कि *है* - वह होने-न-होने के बीच झूलता रहता है, भंगुर होता है, बदलता रहता है। इस लगते रहने को ही अगर ज्ञान कहो तो ज्ञान में *जानने की* बात क्या हुई? कह सकते हो कि हममें एक सीधा सा बोध जागता है, किसी सोचने-समझने से पहले ही जागता है – उस बोध में जो आगे आता है उसे वह बोध 'है' कह कर ठहरा देना चाहता है : यही ज्ञान है जो विचार से पहले होता है, विचार की धरती बनाता है। यह भ्रम भी हो सकता है, जैसे रस्सी को देखते ही साँप समझ बैठना। पर उसका विचार से पहले होना तो विचार ही ठहराता है। विचार में आ कर ही केवल *लगने में* और *होने* में विवेक की बात बनती है। एक गहरा भेद हम यहां कर सकते हैं - विचार को सामने रखते हुए ही कर सकते हैं; या यों कह सकती हूं कि विचार ही भेद करता है : *विषय* और *वस्तु* का भेद। ज्ञान को हम विचार-चेतना के भीतर ही एक सहज बोध कह सकते हैं। इस बोध में हमारे सामने बहुत कुछ तैरता रहता है, जिसे हम बोध का - या 'ज्ञान' कह लो - उसका *विषय* कह सकते हैं। *विषय* 'है' जैसा *लगता* रहता है – हम उसे बोध के एक स्तर पर 'है' के रूप में जानते-से रहते हैं। अकसर वह अपने प्रवाह में विचार की हां-ना की परख से बाहर भी तैरता रहता है। उसका *'है' जैसा लगना*, यह जागरूक विचार से निचले स्तर पर होता है – जैसे हम किसी सोच में या भाव में डूबे हों और सामने क्या है यह नहीं देखने सा ही देख रहे हों। पर यह देखना भी बिलकुल विचार-शून्य नहीं होता, पर ऐसा हम तभी जानते हैं, जब विचार का ध्यान उधर जाता है। और ध्यान उधर जाये तो विचार में वह 'नहीं है' भी निकल सकता है : ऐसा कि 'लगता है पर है नहीं' - यानी *विषय* है, *वस्तु* नहीं : बोध या ज्ञान में तैरता है, *वास्तव* कुछ नहीं।

पिछली बार हमारा 'नहीं है' पर बहुत ज़ोर था – इसलिये कि हम बड़ी आसानी से कह दे सकते हैं कि 'जो कुछ है वह है जैसा लगता है, पर है नहीं'। पर मैं समझती हूं कि यह भी विचार से अलग हटना ही है। विचार अपने मर्म में 'है' की ओर ही मुँह करता है, 'नहीं है' की ओर नहीं। पर एक विचित्र से तत्त्व की बात यहां ध्यान में रखने की है – जो *वस्तु* है वह भी *विषय* के रूप में ही विचार के आगे आती है, और दोनों में भेद भी विचार ही करता है। ऐसा करना उसका *स्वभाव* है। विषय का समूचा पसारा केवल दिखते या लगते रहने का झूठा इन्द्रजाल नहीं होता – किसी जादूगर की दिखाई माया नहीं होती। हमारे लगते-रहते, होते-रहते ज्ञान या बोध के पीछे हमारी विचार-हीन सी 'है' की सदा-होती-रहती प्रतीति के पीछे, *होने* का सच्चा स्वरूप होता है – या यों कहें कि *विषय* के पीछे *वस्तु* होती है। विचार उसी को पकड़ता है।

तभी हम कहते हैं कि जगत् *है*। जो होता है, सचमुच होता है, वह जगत् में होता है। जगत् का होना अपने आप में होना है – जो हमारे ज्ञान से, या कहो कि बोध या प्रतीति से, स्वाधीन है। अनुभूति कह सकती है कि जगत् तो बस एक प्रवाह है – 'जगत्' शब्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का अर्थ भी 'प्रवाह' ही होता है — पर यह ठीक नहीं है, जगत् का अपने आप में एक होना है, या दर्शन के शब्दों में कहो कि उसका अपना 'तत्त्व' है। हमारी जिज्ञासा की आँख उसी तत्त्व की ओर रहती है — और यह आँख विचार है। जगत् निरा विषय नहीं है, *वस्तु* भी है, और जो कुछ जगत् *में* होता है वह भी वस्तु होता है। विचार का काम जगत् के *वस्तु*-रूप को भाँपना है। इससे जगत् में क्या है, क्या क्या है, इसकी भी पहचान बनती है। जगत् की *वस्तु*-डोर *विषय* के बदलते, केवल दिखते बहाव से, वास्तव 'है' को अलग कर देती है। जगत् न हो तो 'क्या है', हमारा यह पूछना ही एक जंजाल होगा, एक सूनी सी, खोखली सी पुकार होगी - 'कौन हो तुम?' जिसका कोई सुनने वाला नहीं — और सुनने वाला नहीं तो पुकारने वाला भी 'कोई' कौन हो सकता है? पर मैं समझती हूं कि यह सवाल यों ही एक हवा का गुबारा नहीं है, यह हमारे उस स्वभाव में है जो *हैं*। वह हमारी जिज्ञासा में है - तभी हम जगत् को जानने की ओर बढ़ते हैं और जान भी सकते हैं। हमारी जिज्ञासा, हमारी ज्ञान की प्रेरणा, व्यर्थ नहीं हो सकती है - चाहे हमारा ज्ञान कभी पूरा न होता हो, उस पर संदेह मँडराता रहता हो, और 'क्या है?', इस निरंतर प्रश्न का जवाब हम ढूँढते ही रह जाते हों। पृथु ने जो रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कविता सुनाई थी — उसमें यह भाव बड़ी सच्चाई से उभर कर आया है : जगत् की आत्मा के भीतर से ही 'क्या है' का सवाल घुमड़ कर उठता रहता है। जगत् की वह आत्मा ही हमारी जिज्ञासा में जागती है और हमारे भीतर से जगत् ही पूछता है कि मैं क्या हूं? पर इसका अर्थ यह भी है कि जगत् में 'है' के साथ 'केवल लगता है' का झूठ या जंजाल भी लिपटा रहता है — तभी हमारी जिज्ञासा विचार के साथ जागती है। विचार सच को पकड़ता है तो झूठ अपने आप अलग हो जाता है। हमारी जानने की चाह के मर्म में विचार की यह पुकार होती है कि जो लग रहा है उसके भीतर सत्य छिपा है। यह सत्य ही जगत् है। जगत् का होना बोध का *विषय* नहीं, बोध की *वस्तु* है — तभी यह जिज्ञासा का लक्ष्य है। विचार के भीतर विचार के प्राण की तरह पलती हमारी जिज्ञासा वृथा नहीं हो सकती है। इस बात की कल्पना ही विभीषिका है। सत्य को जान पाने की आस्था हममें विचार के साथ ही जागती है। और विचार जागता है तो अपने को जानता हुआ जागता है, अपने विषय के सत्य की जिज्ञासा करता हुआ जागता है — विचार और उसका विषय और उस विषय की वस्तु को पकड़ने की ललक हममें एक साथ जागते हैं। विचार अपने विषय के सत्य की ओर स्वभाव से जागरूक रहता है। विचार में 'है'-'नहीं है' का सच्चा विवेक न हो, वह वस्तु के सत्य को विषय से अलग करने में समर्थ न हो, तो विचार का होना ही एक भयंकर ढकोसला हो जायेगा। ऐसा नहीं हो सकता।

मैं जो कह रही हूं उससे उभर ही आता है कि ज्ञान भी और विचार भी — और यों हम भी - सब जगत् के *भीतर* हैं — हमारे माध्यम से जगत् पूछता है कि मैं क्या हूं, या कवि के शब्दों में, मैं कौन हूं? और फिर हमारे ही भीतर से इस प्रश्न का उत्तर खोजता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहता है। तभी हममें विचार जागता है। 'क्या है', या यों कहो कि जो दिखता रहता है वह बहुरूपी 'क्या क्या है' विषय के रूप में दिखता रहता है, विचार उसके पीछे झाँक कर उसके होने के स्वरूप को – उसके *वस्तु*-रूप को जानना चाहता है। पर इससे एक बड़ी विचित्र स्थिति सामने आती है जो सिद्धर्षि को शायद ठीक नहीं जँचेगी : हम आम तौर पर जगत् को इन्द्रियों-से-जाना-गया जगत् ही समझते हैं। हमारी चेतना और उसके भीतर जो होता है, जैसे विचार, उसे जगत् से अलग रखते हैं, मानो वह जगत् के परे किसी विचित्र से दूसरे जगत् में हो, या किसी आकाश जैसे शून्य में कहीं अधर में लटका हो। कल अनुभूति और पृथु दोनों यही करना चाह रहे थे। पर ऐसा करें तो विचार केवल *विषय* हो जायेगा, निरी कल्पना, वह वस्तु का ग्रहण कैसे कर पायेगा? यह सोचना नादानी होगी कि हम कल्पना से - यानी *झूठ* से - सत्य को पकड़ सकते हैं। पर विचार वस्तु के ज्ञान की नींव है। मैं तो समझती हूं कि प्रेम जैसे आदर्श को भी हम वस्तु कह सकते हैं। तुम में से कोई कहेगा कि आदर्श को वस्तु कैसे कह सकते है? वस्तु *होती* है, आदर्श *होने* को 'होना चाहिये' की किसी दृष्टि के अनुरूप बनाना चाहता है। आदर्श 'है' नहीं होता है, हो तो आदर्श की बात ही बेमानी होगी। पर यह भी सोचो कि आदर्श की प्रेरणा भी सत्य की होती है, इसीलिये उसे वस्तु कह रही हूं। 'है' के सत्य की खोज वस्तु की खोज है, उसी की तरह 'होना चाहिये' के सत्य की खोज का होना भी हमारे विचार करने के स्वभाव में ही समाया है - यहां भी जो केवल लगता है, और जो *वास्तव* में होना चाहिये, इनमें विवेक जागता है। विचार के भीतर से विचार पर मनन करें तो एकदम दिखता है कि विचार अपने आप को – अपनी सच्चाई को - जानते रहने का जिज्ञासु रहता है, और विचार अपने विषय के साथ जागता हुआ 'है' की ही नहीं 'होना चाहिये' के सत्य की भी तलाश करता है। क्या यही 'वस्तु' की तलाश नहीं है? वस्तु को हम इन्द्रिय से जोड़ते हैं, तभी आदर्श से नहीं जोड़ सकते – इतना ही 'है' और 'होना चाहिये' का भेद है। पर विचार के बिना इन्द्रिय भी *वस्तु* के प्रति कहां जागती है? 'क्या है' की खोज इन्द्रिय नहीं करती – कर ही नहीं सकती - यह खोज विचार करता है और इन्द्रिय को भी माध्यम बनाता है। विचार ही सच-झूठ को, वस्तु-अवस्तु को, परखता है।

पर मैं अब यों अपनी बात को सामने रख रही हूं तो मुझमें विचार भी कुछ डगमग होता लग रहा है। लगता है बात ठीक बन नहीं रही है – आख़िर विचार तो सच्चा और झूठा दोनों होता है, विचार को 'क्या है' की कसौटी कैसे बना रही हूं मैं? मेरा विचार मुझे बहका तो नहीं रहा? पर इसका सच-झूठ भी तो मैं विचार से ही पकड़ सकती हूं। विचार अपना ही नहीं, इन्द्रियों के रास्ते हमारे सामने आती चीज़ों का भी सत्य - उनका वस्तु-रूप - पकड़ना चाहता है। जिज्ञासा विचार में ही जागती है, तभी उसमें हां-ना दोनों हैं। हम ज्ञान को विचार की हां-ना और डाँवाडोल से – ऊहापोह से – अलग रखना चाहते हैं। तभी हम उस सीधे-साक्षात् 'ज्ञान' की बात करते हैं जो इन्द्रियों से होता है, जिस पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार की छाया नहीं पड़ी होती। पर विचार के बिना इन्द्रिय को जो दिखता रहता है उसमें वह है या नहीं है, क्या है, क्या क्या है, ऐसी किसी जिज्ञासा की बात ही नहीं उठेगी, न विचार के बिना दिखते-रहते, इन्द्रिय के सामने होते-रहते विषय के वस्तु-रूप को पकड़ने की ओर हम बढ़ेंगे। सोच कर देखो, विचार में जागते 'है-नहीं है', या 'क्या है', इसकी क्या कसौटी है? इस जिज्ञासा की प्रेरणा भी और समाधान-कर्त्ता भी विचार ही होता है। ज्ञान को — सत्य या वस्तु के बोध को - हम विचार का फल तो कह सकते हैं पर विचार के बिना इसकी कल्पना नहीं कर सकते। सत्य को या उसके बोध को - ज्ञान को — हम विचार से अलग कर ही नहीं सकते — क्योंकि जिज्ञासा विचार में जागती है, ज्ञान में नहीं, बल्कि 'ज्ञान हुआ' यह बोध - या ज्ञान ही कहो - यह भी विचार में जागता है। तभी विचार ज्ञान पर सवाल भी उठा सकता है और विचार ही सत्य को सत्य ठहराता है।

(अपने विचार में कुछ और उतरते हुए) सच पूछो तो हमारा होना ही विचार का होना है — हम विचार से अलग नहीं हैं। हमारी जानती-हुई चेतना विचार-चेतना है। 'क्या है' की जिज्ञासा को यों समझना चाहिये कि हमारी चेतना — हमारी विचार-चेतना - ही जो अपने सामने देखती है उस के वस्तु-रूप को पकड़ना चाहती है — विचार-चेतना की आँख स्वभाव से किसी 'है' की ओर खुली रहती है — उस 'है' को पकड़ पाना ही ज्ञान है और विचार ही उस 'है' के 'क्या है' को — उसके 'वह जो है', उस 'वही' को भाँपने और आँकने का काम करता है।

मैं यह कहना चाह रही हूं कि जो कुछ है वह *जगत्* में है, और जगत् विचार का विषय भी है और वस्तु भी, और विचार ही विषय और वस्तु में विवेक करता है। हम सिद्धर्षि की तरह इन्द्रियों के विषयों को अपने आप में स्वतन्त्र, विचार से अछूता रखना-समझना चाहते हैं — पर यह काम भी विचार ही करता है। इन्द्रियों के विषय विचार के विषय हो कर ही 'है' या 'नहीं है' के — वस्तु के या विषय के - घेर में आते हैं, नहीं तो उनका होना-नहीं होना एक अंधा प्रवाह ही होता है। इन्द्रियां ज्ञान का माध्यम विचार का अंग बन कर ही बनती हैं — बल्कि यों कह सकते हैं कि इन्द्रिय-बोध जागरूक ही विचार में होता है, वह विचार का अंग न हो तो उसके साथ *ज्ञान* की बात ही नहीं उठेगी। पर इन्द्रियों के सिवा भी विचार के और भी विषय हैं। आदर्श भी विचार का विषय है — उसका भी वस्तु-रूप होता है जो विषय मात्र नहीं होता- बस चाह का एक गुबार भर नहीं होता– प्रेम की तरह आदर्श का सच्चा स्वरूप होता है। पर यहां भी विषय और वस्तु में भेद विचार ही कर सकता है, क्योंकि विचार का जगत् से नाड़ी का रिश्ता है, जगत् वस्तु की नींव है और विचार जगत् से अलग नहीं है—अलग हो तो सत्य से भी अलग ही होगा।

तुम कहोगे कि मैंने इतना कुछ कहा पर 'क्या है' की समस्या वहीं की वहीं रह गई। इस बात को मैं समझती हूं। विचार जो विषय और वस्तु में भेद करता है वह परख ठीक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुई कि नहीं, इसका क्या भरोसा? विचार के पास ऐसा प्रमाण क्या कि दोनों को अलग करे? विचार तो अपने सभी प्रमाणों पर सौ सवाल उठाता चलता है। विषय और वस्तु में भेद का आधार विचार से स्वतन्त्र होना चाहिये नहीं तो उसका प्रमाण ही क्या होगा? तभी तो हम इन्द्रियों को प्रमाण ठहराते हैं। यहां एक गहरी पहेली है — अजीब समस्या है, मानती हूं। सिद्धर्षि कह सकता है कि सपने में भी तो हम सामने कुछ देखते हैं, पर उसे झूठ ठहरा देते हैं — इन्द्रिय की कसौटी से ही तो झूठ ठहराते हैं; विचार यहां अपने आप में क्या कर सकता है? सपना देखते हुए विचार होता ही कहां है? सपना तो अपने को 'है' कहता हुआ ही हम पर हावी होता है। सपने के भीतर हम यही जानते हैं कि जो कुछ हो रहा है, 'हो ही रहा है'। सपने की अपनी अलग दुनिया होती है - या अपना 'जगत्' कहो। इसीलिये कभी सपने के भीतर भी हम सपना देखते हैं। हर सपना अपना जगत् खड़ा करता दिखता है। सपने को सपने में झूठ नहीं कहा जा सकता। सोचने पर तो अजीब बात यह लगती है कि सपने से हम *जागते* हैं। पर तभी इन्द्रियां भी जागती हैं। सपने का झूठ जागते में पकड़ा जाता है, जब इन्द्रियां काम करने लगती हैं। नींद में इन्द्रियां भी सोती हैं। तभी सपना मेरा अकेले का होता है, किसी और को नहीं दिखता। और मुझे भी सवेरे दिख जाता है कि सपना ही था, जब इन्द्रियां जाग उठती हैं। मैं समझ जाता हूं कि एक खेल था मन का जो मुझे ही दिख रहा था, किसी और को नहीं, देखने से बाहर कुछ भी नहीं था — मेरा अकेला मन ही देखने का एक नाटक रच रहा था, या विचित्र सा कोई और अभ्यास कर रहा था। वह क्यों ऐसा करता है, वही जाने। पर सपने में मन भी भीतर ही भीतर, कुछ अपने अनजाने में ही सही, पर वह जानता रहता है कि यह देखने का ही एक खेल है - झूठ है। तभी तो जैसे ही वह जाग कर चौकन्ना होता है और इन्द्रियों की डोर पकड़ता है तो अपने खेल के झूठ को भी पकड़ लेता है। इन्द्रियों को वस्तु का प्रमाण बनाने के पक्ष में ऐसा कहा जा सकता है। मैं सिद्धर्षि की ही ओर से कह रही हूं।

पर यहां एक बात सोचो। एक तो इसका क्या प्रमाण कि सपने में इन्द्रियां काम नहीं करतीं? अगर देखना, सुनना, छूना ,सूंघना, स्वाद लेना, यह इन्द्रियों का काम है तो सपने में भी इन्द्रियों को जागरूक ही मानना पड़ेगा। इन्द्रियां क्या हैं, इस सवाल पर हम विचार कर चुके हैं पिछली बार, और उनको झट से बाहर-दिखती कोई ढेले-पत्थर जैसी चीज़ कह देना तो बिलकुल ठीक नहीं लगता — शरीर का अंग कहो तो क्या शरीर ढेले-पत्थर जैसी चीज़ है? शरीर, शरीर के सुख-दुख, ये भी तो विचार-चेतना में जागते हैं — तभी हम पूछ सकते हैं कि इनका अर्थ क्या है? इनका हम कैसे, क्या करें? पर चलो, इन्द्रिय को बाहर की कोई चीज़ कह लो — पुतलियों को ही इन्द्रिय कह लो, तो भी जब हम सपना देखते हैं तो पुतलियों के भीतर आँख इधर-उधर घूमती दिखती है। इसी तरह सपने में दूसरी इन्द्रियां भी काम करती हैं - चाहे उनका काम करना दिखता न हो। पर चलो,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सपने को इन्द्रियों से अलग रख कर मन का मोह ही कह लो। पर आकाश जो फिल्म की बात कर रहा था उसे क्या कहोगे? या नाटक को? फिल्म में या नाटक में तो देखना साफ़ ही इन्द्रियों का होता है — फिर भी मन एकदम जानता रहता है कि यह खेल है, केवल देखने के लिये, देखने के सुख के लिये, खेला जा रहा है — वास्तव में 'है' नहीं — अगर मन को यह 'ज्ञान' न हो तो जो हम देखते हैं वह फिल्म या नाटक ही नहीं होगा। ऊपर जो आकाश दिखता है, जिसे लेकर पृथु इतना परेशान है, ऐसी चीज़ें भी इन्द्रियों से ही दिखती हैं — पेंसिल पानी में टेढ़ी दिखती है, चिलचिलाती धूप में सूखी सड़क पर पानी दिखता है, बरसात के बाद धरती के इस छोर से उठ कर उस छोर पर उतरता इन्द्रधनुष दिखता है। चमकती हुई सीप में चांदी दिख जाती है और हम उठाने को ललक उठते हैं, रस्सी में साँप दिख जाता है, हम सहम जाते हैं, भागने को आतुर होते हैं। ऐसे भ्रम भी *दिखते* ही हैं। इन्द्रियों से ही दिखते हैं। पर यहीं तो विचार काम आता है — विचार ही, इन्द्रियों से जो दिखता है उसके सच में और झूठ में विवेक करता है। वही दूध का दूध पानी का पानी कर सकता है। वही हमारी देखती हुई चेतना की सच्ची इन्द्रिय है। शरीर की इन्द्रियां उसी का अंग हैं। मन को भी कुछ लोग इन्द्रिय कहते हैं, दूसरी इन्द्रियों को सँभालती और इकट्ठा-करती इन्द्रिय भी कहते हैं — हर इन्द्रिय का अनुभव अलग होता है और एक इन्द्रिय दूसरी को जानती नहीं, मन ही इन्हें जोड़ कर कहता है कि 'जिसे सूंघ रहा हूं, या छू रहा हूं... उसे ही देख रहा हूं'। पर मन भी विचार का अंग होकर ही कुछ जानता है — नहीं तो 'सच नहीं, नाटक है', 'पेंसिल टेढ़ी दिखती है पर है नहीं', ऐसी बातें नहीं कह सकता। विचार मन की आँख है। या यों कहो कि हमारी जानती-देखती चेतना की आँख है विचार। बल्कि, विचार ही वह चेतना है। इन्द्रिय की और मन की आँख में प्रकाश विचार का ही है। तभी हमारे देखने में सच-झूठ के विवेक की बात हो सकती है — विषय और वस्तु में भेद हो सकता है।

(पृथु कुछ कहना चाहता है, उसकी ओर देखते हुए) : थोड़ा रुको। मुझे उस बात पर आने दो जो मैंने कुछ गहराई से सोची है। पृथु, तुम कल देखने की और उस देखने को भी देखने की बात कर रहे थे — दिखा रहे थे कि हमारी चेतना में ही देखने को देखने की सीढ़ियां देखने के ही भीतर उठती चली जाती हैं और चेतना के अपने देखने को देखने के इस सिलसिले का कोई अंत नहीं दिखता है। पर यह भी सोचो कि यह देखना विचार के माध्यम से ही होता है, विचार के भीतर ही उभरता है — हममें विचार न हो तो हम 'देखने को देखने' की कल्पना ही नहीं कर सकते हैं। चेतना अपने को जिस आँख से देखती है, वह विचार ही की आँख है। या कहो कि विचार ही है। पर वही आँख बाहर भी देखती है। आदमी में ही होती है यह आँख। बिल्ली में या चिड़िया में या किसी दूसरे जानवर में चेतना का अपने को देखने का सिलसिला नहीं दिखता। उनमें विचार नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता। तभी वे बाहर भी वस्तु और उसके झूठ-सच को परखती आँख से नहीं देख सकते। उनके लिये कोई *जगत्* नहीं है, बस एक जीते रहने का प्रवाह है। 'जगत् है' यह ज्ञान आदमी की ख़ास बात है। तभी आदमी ही सवाल करता है — क्या है, क्या नहीं है? इस पर सोचता रहता है; होने के सच-झूठ में विवेक करता चलता है। आदमी में विचार है तभी वह *जानना* चाहता है। केवल जीते रहने के व्यवहार में नहीं फँसा रहता। व्यवहार में भी व्यवहार का सत्य ढूँढता है। तभी प्रेम जैसे आदर्श का विचार जागता है।

एक बात मैं ज़ोर देकर कहना चाहती हूं और वह भी विचार के ही स्वरूप में गूढ़ है। विचार अपने बाहर देखता है। अपने आप को भी अपने से बाहर रख कर देखता है — अपने को अपना *विषय* बना कर देखता है। पर अपने आप को देखते हुए विचार का विषय दो-में-बँटा एक द्वंद्व होता है। तभी विचार अपने को परख सकता है। तभी जगत् की बात करता है, जो अपने आप में *है* — विचार में होता हुआ भी विचार से *बाहर* है। देखने में हम क्या पाते हैं : एक देखती आँख या द्रष्टा, या विषयी कहो, और उसका विषय, ये दो साथ दिखते हैं — हर *देखना* इन दो में बँटा होता है। पर ये दो यों जुड़े हुए होते हैं कि अलग नहीं किये जा सकते हैं। सोचो तो विचित्र सी स्थिति है - मैं अपने को देखती हूं तो अपना विषय बनती हूं, नहीं तो अपने को देख ही नहीं सकती, और फिर 'मैं हूं' यह भी जान नहीं सकती। पर मैं विषय के रूप में एक विषय और एक विषयी के जोड़े को ही पाती हूं — एक देखती हुई आँख और एक उसका दृश्य — एक ग्राहक, एक ग्राह्य। मैं इन्द्रियों के रास्ते कुछ देखती हूं तो भी एक विषय और एक विषयी को पाती हूं, और इस विषयी को ही मैं 'मैं' कहती हूं — 'मैं मेज़ देख रही हूं', 'मैं तुम्हें देख रही हूं'। पर विषय-विषयी के इस जोड़े को देखते हुए ही मैं ऐसा कह सकती हूं। मैं यों 'देखने को देखने' की कितनी ही सीढ़ियां उतर जाऊं - या कहो चढ़ जाऊं - दिखते-हुए विषय-विषयी की जुगलबंदी अटूट बनी रहती है। यही हमारी देखती हुई विचार-चेतना का रूप है — विषयी और उसका विषय। पर देखती हुई चेतना के लिये दोनों उसके बाहर होते हैं — इन्हें वह अपने से अलग रख कर ही देखती है, ये दोनों उससे परे, उसके बाहर होते हैं। तो, हमारी चेतना स्वभाव से ही अपने परे कुछ देखती है, पर देखती ही नहीं है, जानना चाहती है, तभी विचार करती हुई देखती है। चेतना का देखना स्वभाव से ही जिज्ञासा के साथ देखना है - तभी वह विषय बना कर देखती है। और फिर विषय के वस्तु-रूप को ढूँढती है। यही जिज्ञासा है। ज्ञान किसका होता है? ज्ञान विषय का होता है, विषय के सत्य को, उसके भीतर की वस्तु को पकड़ना चाहता है ज्ञान। एक स्तर पर ज्ञान अपने हर विषय को 'है' कह देता है। पर ज्ञान विचार से अलग नहीं हो सकता। तभी मैं ज्ञान को भी देखती हूं, उसे विषय बनाती हूं, और चूंकि चेतना देखती ही विचार के माध्यम से है, वह ज्ञान के सच-झूठ को जाँचती चलती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अब यहां एक भीतर की बात मैं और कहना चाहती हूं — जो मेरे सोचने का सार है। मैंने कहा कि देखती-परखती हुई चेतना के लिये, या कहो विचार के लिये, विषय सदा विषय और विषयी का द्वंद्व होता है। विषयी 'मैं' होता है। विचार विषय के ही नहीं विषयी के वस्तु-रूप को — सत्य को — भी पाना चाहता है। एक को वह 'है' के रूप में देखता है, एक को 'होना चाहिये' के रूप में। तभी हम ज्ञान और आदर्श की अलग-अलग बात करते हैं। पर दोनों के पीछे सत्य की, *वस्तु* की, जिज्ञासा वही है — तभी विषयी भी विषय बन कर उभरता है। विचार दोनों के वस्तु-रूप को पकड़ने की साधना करता है। पर थोड़ा गहरे उतर कर देखो तो विचार के भीतर से यह जगत् ही की वस्तु-साधना है। '*क्या* है' की थाह लेता हुआ जगत् 'क्या होना चाहिये' की भी थाह लेता रहता है। जगत् अपने आप को साधता चलता है। हां, वह भटक सकता है, भ्रम में पड़ सकता है, पर फिर अपने को देखता-परखता हुआ अपने भ्रम को भी समझ सकता है — न समझ पाये तो सत्य की भी बात वृथा है — भ्रम को समझ कर विचार उसे दूर कर सकता है। और यहीं 'नहीं' की ज़रूरत पड़ती है। विषय और वस्तु के भेद में ही 'नहीं' का बीज है। केवल ऊपर ऊपर से भी विचार को देखो तो क्या है? जिसको ऊहापोह कहते हैं वही है — एक कुछ सोचना और फिर उसे 'नहीं' कह देना। पर इसके पीछे 'है' को पाने की ही खोज है - उसी को पकड़ने के काम में विचार ऊह का अपोह करता है। उसकी साधना 'है' को पाने की है — और इस 'है' के साथ ही 'होना चाहिये' भी है — दोनों को अलग नहीं किया जा सकता।

बात अटपटी लग सकती है। पर यहां विचार के भीतर एक पते की बात पर ध्यान दो। हमारा देखना अपने को देखता है और देखने की सीढ़ी चढ़ता जाता है - यह देखना विचार ही की प्रक्रिया है, उसके बिना 'देखने' का अर्थ ही क्या? हमारा सबसे पहला देखना — देखने की पहली सीढ़ी का देखना, यह इन्द्रियों के द्वार से बाहर देखना होता है — बाहर एक देश-काल के ठोस जगत् की ओर, जिस जगत् में सब रहते हैं, बिल्ली भी, चिड़िया भी, हम भी। पर इस देखने में भी हम 'पहचान की चीज़ों' को देखना चाहते हैं — वस्तुओं को। पर इन्द्रियों को वस्तु कहां दिखती है? हर इन्द्रिय अलग कुछ देखती है — अलग इन्द्रियां एक ही 'कुछ' देख रही हैं, यह बोध तो इन्द्रिय का नहीं हो सकता - यह बोध तो विचार का होता है — विचार ही वस्तु को पाना चाहता है, वही इन्द्रिय के माध्यम से वस्तु को देखना चाहता है - या यों कहो कि 'क्या है', इस जिज्ञासा को साधता रहता है। तभी तो एक इन्द्रिय के देखने को दूसरी इन्द्रिय से जाँचता है — जो बात पिछली बार उठी थी। ढेले-पत्थर, नदी-नालों को देख कर विचार कहता है कि 'यह वस्तु भौतिक है' — पर *भौतिक* तो दिखता नहीं, वह तो विचार की ही वस्तु है। हम जिज्ञासा कर सकते हैं कि 'भौतिक क्या?' पर यह विचार की ही साधना होगी जो अपने भीतर सीढ़ियां चढ़ती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चली जा सकती है — 'भौतिक क्या' इसका उत्तर कई रूप ले सकता है, आज विज्ञान में एक बहुत बड़ा विस्तार ले ही रहा है, जो विचार को भी भौतिक के भीतर उतार लाना चाहता है। यों भौतिक की समझ भ्रांत भी हो ही सकती है। पर इससे यही उभरता है कि सत्य विचार की ही साधना है।

(थोड़ा सा रुक कर अलग कुछ जोड़ते हुए) पर लगता है 'सत्य क्या हो', इस बारे में विचार की अपनी चाह भी होती है। विचार जगत् को *एक* जगत् के रूप में देखना चाहता है, देखने मात्र के लिये, सबके लिये, *एक*-जगत् - एक-व्यवस्था में पिरोया एक-जगत्। तभी सपना, जो नित नया जगत् खड़ा करता है, उसे वह वस्तु का देखना नहीं मान सकता। पर देखो कि यहां भी सत्य 'क्या है', उसकी खोज में ही विचार का एक आदर्श - 'सत्य को क्या होना चाहिये' — 'क्या है' के स्वभाव में ही समाया है।

(आकाश की ओर देखते हुए, जो कुछ देर से कुछ कहने को कसमसा रहा था) एक आख़िरी बात और कहना चाहती हूं। पिछली चर्चा में यह बात बार बार कही जा रही थी कि 'कुछ है ही क्यों जब कि कुछ भी नहीं भी हो सकता था' — मैं समझती हूं कि ऐसी बात कहने के पीछे यह भावना है कि जगत् एक कल्पना है जिसका होना एक संयोग की बात है। क्योंकि यह कल्पना नहीं भी हो सकती थी, या कुछ और हो सकती थी। पर हम यह सोचें कि हमारे भीतर से हमारा विचार, हमारी जगत्-चेतना ही जगत् को बनाती है तो जगत् केवल कल्पना नहीं रह जायेगा। उस दिन की यह बात भ्रांत ही ठहरती है। (चुप हो कर आकाश की ओर देखती है)।

आकाश : शिखा, तुमने गहराई से सोचा है, यह दिख ही रहा है। उस दिन तुम्हारी बात में कच्चापन था। तुम कुछ ऐसा कह रही थीं कि मानो ज्ञान के भीतर कोई ऐसा पारस-पत्थर हो सकता है जो सच को सच और झूठ को झूठ दिखा दे। पर अब तुम 'क्या है' की पकड़ को वैसा सीधा सा काम नहीं समझ रही हो। अब तुम ज्ञान को अलग नहीं, विचार के भीतर रख रही हो और विचार को ही सच और झूठ दोनों की धरती बता रही हो।

(अपनी बात पर आते हुए) यह ठीक है कि विचार के बिना ज्ञान की बात नहीं हो सकती, पर विचार के बारे में तुमने जो कहा — मैं समझता हूं बहुत सोच कर कहा - पर तुम जो कह रही हो वह अगर सच है तो फिर *दिखने* या *लगने* और सचमुच *होने* का भेद कभी किया ही नहीं जा सकता। यह भेद विचार के भीतर का ही ऐसा ऊहापोह हो जाता है जो कभी सत्य के किसी ठिकाने कहीं पहुँच ही नहीं सकता - यों 'क्या है' कल्पना का एक अनंत खेल-सा ही रह जाता है -चाहे कल्पना को नाम विचार का दे लो। विचार में जो कुछ भी होता है। जिस पर विचार ऊहापोह कर सकता है, वह विचार का *विषय* ही होता है, वह वस्तु है या नहीं, इसका निर्णय विचार ही कैसे कर सकता है? माना कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हममें — हमारी विचार-चेतना में — विषय के परे वस्तु को पाने की एक ललक होती है, एक अदम्य खोज भी होती है, पर विचार तो विषय के घेर से निकल ही नहीं सकता! रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता के सूर्य की तरह विचार प्रश्न ही करता रह जाता है, उत्तर कभी नहीं पाता। शिखा, तुम्हारी बात से ही निकलता है कि विचार देखने की एक सीढ़ी पर जो वस्तु-दर्शन करता है उसे अगली सीढ़ी पर विषय-मात्र कह दे सकता है। यों विचार के लिये तो जगत् विषय ही बना रहता है, क्योंकि वस्तु अगली सीढ़ी पर अवस्तु ठहर सकती है। तभी हम विचार से हट कर इन्द्रियों के सीधे वस्तु-*साक्षात्* की बात करते हैं।

और तुमने शिखा, जगत् को न जाने कितना बड़ा कर दिया — उसे विचार कहो या कल्पना कहो, उस विचार-कल्पना के सारे पसारे के साथ एकाकार कर दिया। पर जगत् का बोध तो हमें इन्द्रियां देती हैं। हममें इन्द्रियां नहीं हों तो 'हमसे बाहर अपने आप में कुछ है — कोई वस्तु-जगत् है' यह बोध ही हमें नहीं होगा। यह ठीक है कि इन्द्रियां अपने आप में '*क्या* है' का निर्णय नहीं करतीं, पर 'है' का - या कहो वस्तु का - अचूक संकेत तो इन्द्रियां ही देती हैं। उस संकेत को ले कर ही विचार 'है' की स्वीकृति देता है - अध्यवसाय करता है—और फिर संयत भाव से आगे बढ़ कर '*क्या* है' का निर्णय करता है।

(अपनी बात को बढ़ाना चाहते हुए) हां, पर यह भी है कि हम बाहर ही नहीं, भीतर भी 'है ' की बात करते हैं। हम पूरे भरोसे के साथ कुछ कह सकते हैं तो 'मैं हूं' की ही बात कर सकते हैं — उस दिन मैं कह ही रहा था! अब देखो, बाहर की तरह भीतर का अध्यवसाय भी किसी *साक्षात्* के ही आधार पर करता है विचार — मुझे अपने होने का बिना-किसी-आड़ के सीधा-सरल साक्षात्कार होता है तभी मैं कह पाता हूं कि 'मैं हूं'। इसके बाद ही मैं कह सकता हूं कि 'मैं *विचार* कर रहा हूं'। मैं यह भी कह सकता हूं कि 'मैं इच्छा कर रहा हूं' - या यह भी कि 'मैं कुछ बना रहा हूं'। बड़ी बात यह कि विचार कोई सीधा साक्षात्कार नहीं करता — विचार के बाहर से आये किसी सीधे साक्षात्कार के बिना विचार में कोई विषय उभर ही कहां से सकता है? यह बोध ही कहां से उभर सकता है कि विषय के परे कुछ *वस्तु* है? विचार में तो विषय ही विषय दिखता है, और वह भी ऊहापोह में उलझा हुआ - वहां वस्तु कहां? मेरी समझ में नहीं आ रहा कि विचार के अपने ही भीतर से, बिना किसी सीधे साक्षात् संकेत के हममें यह भाव जाग ही कैसे सकता है कि विषय के परे या विषय की आधारभूत कोई *वस्तु* भी है — ऐसा कुछ है जो विचार का सोचा हुआ नहीं है, बल्कि अपने आप में है? विचार में ऐसे बोध को धरती कहां मिल सकती है? तुमने सच ही कहा कि विचार में यह बोध होता है कि 'वस्तु है', और यह भी ठीक है कि विचार ही वस्तु को ढूँढता है, पर विचार-बाहर किसी साक्षात् के बिना यह खोज भी एक भूल-भरम — एक झूठा मोह — ही लगती है। पृथु जिस आकाश की बात करता है मानो उस आकाश में निरर्थक शून्य भटकाव।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(फिर थोड़ा यों सर झटका कर इस भाव के साथ कि कांटे-सी कोई बात बुने हुए को उधेड़ रही है) पर एक बात सताती है फिर भी - या यों कहो कि एक *विचार* सताता है : हम यहां विचार के सताये ही तो बैठे हैं! अब जो कह रहा हूं उस पर विचार करता हूं तो एक सवाल का जवाब नहीं मिलता। यह सोचो : अगर इन्द्रिय का सीधा संकेत भी विचार का ऊह बन कर ही विषय या वस्तु हो सकता है तो विचार की अगली सीढ़ी पर उसका अपोह भी हो ही जा सकता है — उसे भ्रम के - 'नहीं है' के - पेटे में डाल दिया जा सकता है। अब यहां तुम में से कोई आपत्ति में कह सकता है कि इन्द्रिय का भ्रम तो इन्द्रिय से ही मिटता है, विचार के अपने बूते भ्रम नहीं मिटता - उस दिन यह बात उठी ही थी, आज शिखा ने फिर इसकी बात चलाई थी। पर यह सोचो कि पते की बात यह है कि विचार के बिना भी भ्रम नहीं मिटता — एक इन्द्रिय दूसरी का भ्रम अपने आप तो मिटाती नहीं। और कुछ भ्रम तो ऐसे हैं कि *विचार में* ही मिटते हैं, इन्द्रियों के साक्षात् में तो बने रहते हैं — जैसे आकाश का नीला दिखना, या पेंसिल का पानी में टेढ़ा दिखना। विचार यहां अपने ही बल पर इन्द्रिय को साफ़ 'न' कह देता है, और हमें बात ठीक लगती है। पर बात के ठीक लगने का यहां क्या मतलब? यहां विचार ही तो अपना प्रमाण होता है — इन्द्रिय के साक्षात् को तो झूठा ही ठहरा देता है — और हर विचार करनेवाला बात मान जाता है।

अब यहां से थोड़ा और आगे बढ़ कर सोचो तो पहेली और अबूझ होती जाती है — विज्ञान की बात सोचो। हम इन्द्रिय-साक्षात् की बात करें तो विज्ञान से कैसे हट सकते हैं? हम यही समझते हैं कि विज्ञान का जगत् हमारे विचार से अलग अपने आप में *है*, वस्तु है, विषय की छाया से भी अछूता — उसका आधार इन्द्रियां हैं। पर यह सोचो कि विज्ञान का इन्द्रिय-साक्षात् पर बना जगत् कैसा जगत् है? विज्ञान तो विचार का ही एक रूप उभारता है। बिना विचार के विज्ञान की कल्पना ही नहीं हो सकती। विज्ञान जिन 'वस्तुओं' की बात करता है वे अनुमान में — और अकसर अटकल में — ही होती हैं। कैसी 'वस्तु' की बात करता है विज्ञान? इन्द्रियों से कहीं-परे-बसते अणु-पिण्डों की बात करता है, वैसी ही ओज-तरंगों की बात करता है — पिण्डों के बीच कई तरह के आकर्षण-विकर्षण की बात करता है, इनके *नियमों* की बात करता है — बिना विचार के ऐसे 'वस्तु-जगत्' की बात कैसे हो सकती है? ऊपर से तुर्रा यह कि इन्द्रिय से तो हम जो देखते-छूते-सूंघते-सुनते हैं, ऐसे साक्षात् को तो विज्ञान बिलकुल सिरे से नकार देता है — इन्द्रिय से चला विज्ञान इन्द्रिय को नकार कर ही अपना जगत् बनाता है — रस, गंध, स्वाद, यहां तक कि हमें दिखता प्रकाश और हमें सुनती ध्वनि, ये भी विज्ञान के जगत् में नहीं होते, बस दिखते ही हैं, विषय ही होते हैं, वस्तु नहीं, वस्तु तो इन्द्रिय की पकड़ से दूर छिटक जाती है, विचार न हो तो समझ में कहीं समा ही नहीं सकती। एक और अजीब बात देखो। इन्द्रिय से कहीं अधिक गणित को मानता है विज्ञान - उसी की धरती पर बनता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। लेकिन सोचो, गणित का इन्द्रिय से क्या संबंध है? इन्द्रियां तो एक-दो-तीन... नहीं गिनतीं। इन्द्रिय से दिखती वस्तु भी अपने आप में एक, दो, तीन... की गिनती में नहीं आती। उसी एक वस्तु के एक, दो, तीन... या अनगिनत हिस्से हो सकते हैं, तभी तो विज्ञान बन पाता है! और देखो, हम सारे वस्तु-समूह को भी *एक* कह सकते हैं। जिसे हम जगत् समझते हैं उसे *एक* न समझें तो अजीब सी बिखेर-देती गुत्थी हो जायेगी। हां, उस *एक* जगत् में वस्तुओं को एक-दो-तीन... न गिनें तो भी गहरी पहेली ही खड़ी होगी। पर यह सारी गिनती विचार ही गिनता है, इन्द्रियां नहीं। इन्द्रियों के लिये संख्या का कोई अर्थ ही बनता नहीं दिखता। संख्या में शून्य और अनंत होते हैं, जिनको इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के भीतर रखने का कोई अर्थ ही नहीं निकलता। पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के जगत् का ज्ञान, जिसे हम विज्ञान कहते हैं, वह तो शून्य और अनंत जैसी संख्याओं के बिना बन ही नहीं सकता। तो क्या यह कहें कि संख्या का हमें साक्षात् होता है, इन्द्रिय-हीन साक्षात्? सोचो, कि संख्या का बोध स्वप्न जैसा अनर्गल कुछ तो नहीं होता — इन्द्रिय जैसा बिलकुल सच्चा-पक्का, सबको-होता बोध होता है हमें संख्या का। किसी तरह के साक्षात् के बिना कहां से आती है संख्या हमारे बोध में? पर इस साक्षात् में *वस्तु* कहां होती है? केवल एक व्यवस्था ही होती है। ऐसा साक्षात् विचार-बोध को ही हो सकता है। लेकिन अगर यह सच है तो फिर विज्ञान का वस्तु-निर्णय इन्द्रिय की उँगली छोड़ कर विचार के घेरे में ही आ बैठा दिखता है। इन्द्रिय तो एक बहाना रह जाती है।

वैसे भी, थोड़ा सोच कर देखो तो इन्द्रिय की उँगली हम देश और काल की बात करते ही छोड़ देते हैं। विचित्र हैं देश और काल। इन्द्रियों से तो नहीं दिखते, पर इन्द्रियों से जो कुछ दिखता है, देश-काल में ही दिखता है। हां, ऐसा भी कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के बोध में ही देश-काल गुँथे रहते हैं — हम रंग देखते हैं तो देश के विस्तार के साथ ही देखते हैं, और अंतरिन्द्रिय के लिये सुख-दुख, इच्छा, इनका बोध काल-बोध के साथ पिरोया रहता है; लेकिन देश और काल का अपने आप में कुछ होना - यहां तक कि देश का असीम होना और काल का अनंत, ऐसे बोध हमारे देश-काल बोध में ही गुँथे रहते हैं, पर इनमें इन्द्रिय का कोई हाथ नहीं होता। मैने अभी कहा था कि हमारा जगत्-बोध हमारे इन्द्रिय-बोध पर टिका हुआ है। पर 'देश और काल इन्द्रिय-जगत्-व्यापी हैं', यह बोध भी हमारे जगत्-बोध का अंग है, लेकिन इन्द्रिय-बोध का नहीं — फिर अगर देश-काल के बोध के बिना इन्द्रियों को जगत्-बोध नहीं होता तो इन्द्रिय की मुट्ठी में समाता ही कितना है?

(अपने कहे के कुछ भीतर उतरने के भाव से) अब यह भी देखो कि विज्ञान देश की बात कैसे करता है। गणित से करता है — ज्यामिति से। विज्ञान वस्तु को देश में रख कर देखना-मापना चाहता है, पर अजीब सी बात होती है यहां - देश की समझ विज्ञान को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एकदम देश के बाहर ले जाती है, विचार के अदेश में। एक छोटी सी बात को देखो - 'कहां है?' के अचूक, बिलकुल बँधे-घिरे, *तत्-स्थित* स्थान की बात सोचो। ऐसे स्थान की ठीक पकड़ के लिये हम बिंदु की बात करते हैं, बिंदुओं के ही आधार पर फिर उसे नापते हैं — रेखा आदि सब बिन्दुओं से ही बनते हैं। पर बिंदु क्या देश में कोई स्थान होता भी है? हो ही नहीं सकता। बिंदु अगर देश में कोई स्थान हो - छोटा से छोटा ही सही — तो उसका आयाम होगा, उसमें दिशायें होंगी, उसका आगा-पीछा होगा, किनारे होंगे, ऊपर नीचे का हिस्सा होगा — जिनको दस दिशायें कहते हैं, सबकी जगह होगी उस छोटे से स्थान में — नहीं तो उसे *स्थान* ही नहीं कह सकेंगे। (सब की ओर देखते हुए) तुम कोई ऐसा स्थान बना कर दिखा दो जिसमें दिशायें न हों। पर अब ज्यामिति के बिंदु को याद करो। वही तो देश का बिंदु है! उस बिंदु का कोई परिमाण नहीं होता। यानी उसमें दिशायें नहीं होतीं। यानी वह देश में नहीं होता। पर उसी को हम स्थान का *तत्-स्थित* अणु-रूप कहते हैं। अब आदत पड़ गई है तो हमें बात से कोई हैरानी नहीं होती - हम ध्यान तक नहीं देते — सीखे-पढ़े को बस निगल-सा लेते हैं और परम श्रद्धा के साथ सत्य की पंगत में बिठा देते हैं। पर सोचो तो कैसी अनहोनी बात है कि स्थान का अणु स्थान के *बाहर* होता है। और इसके बिना स्थान की अचूक पकड़ ही नहीं बन सकती। क्यों? देखो, अगर हम त्रिकोण बनायें तो एक बिंदु पर कोण बनता है। उस कोण का एक सही सही माप होता है — जो वहां खड़ी रेखाओं के - और निदान को - ज्यामिति के कुछ नियत संबंधों के आधार पर बनता है। इन्हें देश के ही स्वरूप में सिद्ध संबंध कह सकते हैं — जिन्हें हम नियम भी कहते हैं। पर बिंदु को लो। वह बिंदु, जिस पर कि कोण खड़ा होता है, उसका अगर नगण्य सा भी अपना स्थान-परिमाण हो तो कोण का अपना सही परिमाण बिगड़ जायेगा, हमारे बनाये-आँके हुए अलग अलग बिंदुओं के साथ इधर उधर होता रहेगा — हर बार बिलकुल एक सा बिंदु कभी आँका नहीं जा सकेगा। आँका जाये भी तो काम का नहीं होगा, क्योंकि ज्यामिति के आदर्श, नियत और अनिवार्य परिमाणों के आड़े आयेगा। हमें देश के परिमाणों और उनके संबंधों को सही सही आँकने लिये ऐसा 'सच्चा' बिंदु चाहिये जो वास्तव बिंदु हो ही नहीं सकता। देश को नियत परिमाण के रूप में पकड़ने का जो ज्यामिति का लक्ष्य है वह देश के छोटे से छोटे परिमाण को देश के बाहर रखे बिना नहीं सिद्ध होता। विचित्र तो है पर स्पष्ट भी है कि स्थान के - या देश के — स्वरूप का सही सही *सच्चा* चित्र देश के बाहर निकल कर - यानी विचार के भीतर आ कर — ही बन सकता है। बिंदु देश का वह *विशुद्ध* स्थान है जो देश में नहीं है, न हो सकता है — और जब बिंदु का रूप ऐसा है तो फिर रेखा आदि ज्यामिति की सारी आकृतियां ही देश के परे ही ठहरती हैं। विचार के ही क्षेत्र में बनती हैं - ये सब की सब विचार की धारणायें हैं, पर इनके बिना जगत् के 'क्या' को विज्ञान नहीं पकड़ सकता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अब पूछो, बिंदु विषय है या वस्तु? उसे वस्तु कहें तो इन्द्रिय-जगत् की नहीं विचार की ही वस्तु कह सकते हैं। और उसे वस्तु न कहें तो ज्यामिति जैसे सारे के सारे विचार के क्षेत्र को भी केवल विषय कहना होगा। सवाल उठेगा कि तो फिर हम देश को भी वस्तु-हीन विषय क्यों नहीं कहें? अगर ज्यामिति देश को आँकती है तो यही निकलता है।

पर, शिखा, यहां एक और बिलकुल अलग-जाती-सी बात भी मेरे मन को खटखटाती है। मैं सोचता हूं तो गहरे असमंजस में पड़ जाता हूं। मेरा मन तुम्हारी बात में सच देखने लगता है, पर एक अनबूझ उलझाव और विरोध भी दिखाई देता है जो समझ में नहीं आता। तुम विषय और वस्तु को — वह जो केवल बोध में सामने आता है और वह जो हमारे देखने से अलग, स्वाधीन, अपने आप में, वास्तव में है — इन दोनों को एक-दूसरे से बिलकुल यों अलग कर देना चाहती हो जैसे एक दूसरे का अजनबी हो। मुझे लगता है तुम दो विच्छिन्न, एक-दूसरे-से-पराये तत्त्व बनाना चाहती हो : एक विषय जो मिथ्या है - लगता है कि है पर है नहीं, दूसरा वस्तु जो सत्य है। पर फिर तुम विषय और वस्तु दोनों को एक ही विचार-तत्त्व के भीतर भी रखना चाहती हो। एक पहेली सी लगती है बात कि एक ही विचार वस्तु और विषय — सच और झूठ, 'है' और 'नहीं है' — दोनों को एक ही कोख में कैसे पालता है? और क्यों? किस लिये? तो फिर विचार का अपना होना क्या है — 'है' या 'नहीं है'? तुम उसे जगत् के भीतर रख रही थीं - यह बात गले उतार नहीं पा रहा हूं — जगत् किसको कहें, यह ठीक समझ नहीं आता है : क्या जो कुछ विषय — और यों वस्तु भी — हो सकता है, वह सारा का सारा जगत् *में* है? जगत् तो वस्तु ही हो सकता है - विचार तो दोनों है, वह अपना विषय भी होता है, और विषय से ऊपर खड़ा उसका द्रष्टा, आलोचक-विवेचक भी। ऐसा द्रष्टा क्या विचार से भी अलग खड़ा विचार को नहीं देखता? जगत् से बाहर नहीं होता — न हो तो 'क्या होना चाहिये' की बात ही कैसे उठ सकती है? शिखा, तुम कहती हो कि जगत् विचार के भीतर नहीं हो तो वह जगत् को समझ ही कैसे सकता है? तुमने ठीक ही कहा। पर वह अपने से अलग हो कर अपने *पर* विचार न कर सके तो भी जगत् का *द्रष्टा* कैसे होगा — जगत् का द्रष्टा हुए बिना जगत् को समझेगा कैसे? उसमें आदर्श का — 'कुछ और होना चाहिये जो वास्तव है' का बोध ही कहां से आयेगा? वह वस्तु से दूर, विषय-प्रवाह में ही डूबा रह जायेगा। पर चलो, विचार को हम यों समझें कि वह इस प्रवाह के भीतर भी है, बाहर भी — जैसा कि अनुभव भी होता है — तो भी वह सत्य की ओर बढ़ कैसे सकता है? वह कुछ ऊह करता है — एक सोच के साथ किसी सत्य की ओर बढ़ता है, पर अगले ही कदम अपोह कर डालता है — अपने ही सोचे हुए में छिद्र निकाल देता है, और इस सिलसिले की सीढ़ियां कहीं रुकती नहीं दिखतीं। निकलता यही है कि विचार जगत् को — और साथ ही अपने आप को- विषय तो बना लेता है, और उसमें वस्तु की खोज भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है, पर सत्य यह है कि विषय को वस्तु से अलग किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि अभी जिसे वस्तु ठहराया है अगले पल वही अवस्तु हो जा सकता है।

(थोड़ा रुक कर) फिर भी मुझे लगता है कि विचार को सत्य की साधना ही कहना चाहिये, उसके बिना सत्य की बात ही क्या? - यह बात भी मैं समझ रहा हूं, पर फिर भी यह काँटा, यह कचोट बनी रहती है कि यह कहीं पहुँचने वाली साधना नहीं दिखती। तभी तो हम विचार के बाहर साक्षात् ढूँढते हैं – आदर्शों के लिये उनकी ओर मुड़ते हैं जिन्हें दिव्य साक्षात्कार हो। पर बात विचार की खोज के घेर में आ ही जाती है। साक्षात् को साक्षात् विचार ही ठहराता है। बात अटपटी लग सकती है, पर सोचो तो यही उभरता है। सत्य एक खोज है ही, विचार की ही खोज है, या एक निरंतर अनंत जिज्ञासा कहो – जगत् के सत्य की ही नहीं, मेरे अपने सत्य की भी खोज है - तभी 'क्या है' की ही नहीं 'क्या होना चाहिये' की भी खोज विचार को व्यस्त और व्यग्र रखती है, सताती है। इस खोज को झुठलाया नहीं जा सकता है, पर इसकी निरंतरता को, इस खोज के खोज ही रह जाने को भी नहीं झुठलाया जा सकता।

(तभी कुछ और सोच कर) अभी एक और बात सूझी है मुझे। तुम्हारे सामने रखता हूं। हम विचार को सत्य का साधक क्यों कहें, सत्य का स्रष्टा क्यों न कहें? यानी विचार खोजता नहीं है, बुनता है, बनाता है। ऐसा नहीं है कि सत्य पहले से दिया हुआ कुछ है और विचार उसे ढूँढता रहता है – ऐसा होता तो सत्य विचार का *संधान* नहीं हो सकता था। पर शिखा की बात से यह भी उभरता है और बिलकुल ठीक उभरता है कि सत्य अगर विचार से पराया हो, विचार के बाहर हो तो भी सत्य की बात ही कैसे हो सकती है? विचार सत्य की ओर न बढ़ पाता हो तो फिर हमारी सत्य की साधना आमूल व्यर्थ ठहरेगी : जिसने हमें रचा है उसका - या हमारी होनी का कहो – एक फूहड़, भोंडा मज़ाक। पर सत्य अगर विचार के भीतर है तो विचार की साधना को खोज नहीं सृजन होना चाहिये। विचार का ऊह सत्य को बुनता है – अपोह तराशने का काम करता है – जो अनबना है उस को हटाने की चेष्टा है अपोह, वैसे ही जैसे मूर्तिकार कुछ गढ़ता है तो अनगढ़ को हटाता भी चलता है। और, हां, विचार का यह गढ़ना निरंतर है, इसका कहीं अंत नहीं। तभी हमें सत्य मिलता नहीं, हम सत्य को साधते ही चलते हैं। भीतर से देखो तो यह सृजन की निरंतर साधना है। तभी 'क्या है' और 'क्या होना चाहिये' दोनों एकरस हो सकते हैं। सृजन कुछ सार्थक साधता चलता है, और इस काम में 'है' 'होना चाहिये' से अलग कुछ नहीं होता।

(फिर अपनी बात के बहाव में, कुछ तेज़ आवेग और रवानी के साथ) शिखा ने विचार के दो काम बताये जिनको यों कह सकते हैं – एक बाहर के सत्य की या वस्तु की खोज और एक भीतर के सत्य की – आदर्श की – खोज। अब आदर्श को लो –

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदर्श की साधना क्या है? मेरा आप ही अपने आप को बनाना, अपने को सिरजना, यही तो है आदर्श! अपनी वस्तु को, अपने अर्थ को रूप देना है। सृजन यही करता है। बाहर मैं जिसे ढूँढता हूं वह वस्तु भी अर्थ ही होती है — जिज्ञासा का अर्थ। वह विचार की सृष्टि ही होती है। ज्यामिति क्या करती है? देश का स्वरूप, उसका अर्थ ढूँढती है। यह सृजन ही है। उसके ढूँढने से पहले वह अर्थ कहां रहता है? तो मैं कह ही सकता हूं कि ज्यामिति देश को बिंदु की तूलिका से *गढ़ती* है। बिंदु तो देश में नहीं रहता, विचार में रहता है, पर बिंदु के बिना देश का रूप ही नहीं उकेरा जा सकता। विचार का काम है देश के रूप को, उसके अर्थ को, उकेरना। यों विचार अपने भी अर्थ को उकेरता चलता है — विचार अपनी ही सृष्टि है। (थोड़ा अटक कर) मैं अपनी बात शायद ठीक कह नहीं पा रहा हूं — बहकती हुई लग सकती है बात, पर मैं सोच ठीक रहा हूं। कुछ और सोचने दो। (अचानक बोलना बंद कर देता है)।

सिद्धर्षि : साफ़ ही तुम सबको विचार का गहरा रोग लग गया है — तेज़ बुख़ार के मरीज़ की तरह आपे से बाहर हो रहे हो — सब के सब। क्या कह रहे हो आप ही नहीं जानते। पहले 'नहीं है' और उसी जैसे 'है-नहीं है' का राग ऊँचे तार सुरों में अलाप रहे थे तो 'नहीं' को ही 'है' का सार बना दिया था। अब 'है' का राग छेड़ा है तो उसका सारा सार उधेड़ कर उसे विचार की कोरी हवा बनाये दे रहे हो। आकाश ने तो अभी हद ही कर दी। मैं, तुम, यह सारी दुनिया — हम जिस ठोस धरती पर साँस लेते हैं, जीते हैं, जिस पर अपना बसेरा बाँधते हैं — जो हमारे पहले भी थी, हमारे बाद भी रहेगी — इस सब को विचार का मनगढ़ा हुआ 'अर्थ' बना दिया, जैसे किसी हवाई किला गढ़ते कवि की कल्पना हो — ऐसी बातों का क्या कोई मतलब भी हो सकता है? तभी तो आकाश अपनी बात पूरी नहीं कर पाया — कहीं उसमें सद्‌बुद्धि जागी जिसने जीभ पर ताला लगा दिया।

पर हां, तुम सब की बातों से मैं भी विचार के महत्त्व को समझ रहा हूं - यह समझ रहा हूं कि बिना विचार के '*क्या* है' की बात नहीं हो सकती। और यह भी ठीक लगता है कि बिना विचार के 'है' की भी *बात* नहीं हो सकती। और 'है' की *बात* करने के लिये विचार को 'नहीं' का सहारा लेना ही पड़ता है। (शिखा की ओर देख कर) और शिखा यह भी तुमने बहुत सच कहा कि विचार 'है' की ओर ही झुकता है — 'है' को ही समझना चाहता है, और इसी काम के लिये 'नहीं है' का सहारा लेता है — अपने आप में 'नहीं है' का कोई अर्थ नहीं । आकाश भी अपने अनबने-अनगढ़े सृजन की अचानक-आई बाढ़ में डूब जाने के पहले विज्ञान के हवाले से यही कह रहा था। पर देखने की बात यह है कि *है* की *वस्तु* विचार के हाथ नहीं होती — विचार के लिये तो वह विषय ही होती है — *है* की *वस्तु* तो इन्द्रिय की ही पकड़ में आती है — विचार तो उसके *क्या* को ही बताता है। आकाश इस बात को समझ रहा था। उस ने कहा भी कि जो हमें — हम सबको, जीव मात्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को — अपनी इन्द्रियों से दिखता है, वह है — वही जगत् है, हमारे सबके लिये है — बाकी हमारी देखती हुई चेतना को — हमारे विचार को - अपने भीतर ही भीतर दिखता है - वह केवल *विषय* है, *वस्तु* नहीं है। यहां देखो — इस समोसे को मैं जब हाथ से उठा कर मुँह में डालता हूं, इसे चखता हूं, तो समोसा वस्तु होता है — पर मैं अलग से केवल इसका नाम लूं, इस पर विचार करूं कि यह कैसा है, दूसरे समोसों से कैसे अलग है, उनसे बढ़िया है या घट कर, या यह सोचूं कि इसे समोसा ही क्यों कहा जाये, कचौड़ी क्यों नहीं - या ऐसे ही दूसरे सवाल उठाऊँ और उन पर विचार करूं, तो समोसा विषय होगा वस्तु नहीं। यों विचार तो वस्तु को भी विषय बना लेता है। समोसा जब विचार का *विषय* हो जाता है तो उसके 'है' के ठोस ताने के साथ 'नहीं है' का हवाई बाना भी जुड़ जाता है — तभी हम केवल 'है' की नहीं 'क्या है' की बात कर पाते हैं। वस्तु के साथ इस तरह जब एक साथ 'हां-ना' में बसता विचार जुड़ जाये तब विचार को क्या कहा जाये? उसे 'है' नहीं कह कर कुछ और कहना चाहिये, पर उसे 'नहीं है' भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह 'है' की नींव पर खड़ा है। शिखा, यह बात तुमने खोल कर नहीं कही, पर मुझे लगता है तुम्हारे कहने में कहीं कही गई है। पर जहां विचार का इंद्रिय से कोई संबंध ही नहीं हो, वह अपनी विशुद्ध हवा बाँध रहा हो, तब उसकी स्थिति, उसका होना कैसा होता है? कुछ बेढब ही होता है - जैसे होने के *हाशिये* पर होता है। शिखा, उसको तुम क्या कहोगी? विचित्र ही होता है उसका होना, 'है' और 'नहीं है' को एक ही कोख में पालता है।

(थोड़ा रुक कर, जैसे किसी अनचाही बात का सामना करते हुए) पर विचार का होना कितना ही बेढब हो, इन्द्रिय से अलग खड़े विशुद्ध विचार को 'नहीं है' कह कर टाला भी नहीं जा सकता। आकाश ने दिखाया कि बिंदु जैसी विचार की विशुद्ध धारणा भी हमारे ठोस जगत् को समझने में आधार का काम करती है — ऐसी धारणाओं के बिना विज्ञान न बन सकता है, न आगे बढ़ सकता है। फिर यह भी सोचो कि विचार को 'नहीं है' कहें तो हमारा अपना होना ही मुश्किल में पड़ ज़ायेगा। हमारा 'मैं' ही 'नहीं है' हो जायेगा, क्योंकि मैं अपने आप को किसी इन्द्रिय से तो देखता नहीं। अपनी देखती चेतना से, या यह कहो कि विचार से ही, देखता हूं, और विषय के रूप में देखता हूं। तो क्या मैं भी एक कल्पना हूं? यह तो हो नहीं सकता — मैं वस्तु नहीं हूं तो मेरे लिये वस्तु ही क्या होगी? मैं कल्पना हूं तो सभी कुछ कल्पना नहीं हो जायेगा? कल आकाश ने ठीक ही दिखाया था कि और कुछ हो या न हो, सब कुछ के होने पर हम संदेह कर सकते हैं, और संदेह बना ही रहता है — नहीं तो हम बैठे बातें ही क्यों कर रहे हैं?– लेकिन मैं अपने होने पर — अपने 'मैं' पर - संदेह कर ही नहीं सकता। और मुझे यह भी दिख रहा है कि 'मैं' के 'है' को 'नहीं है' के बिना खड़ा नहीं किया जा सकता : 'मैं तुम नहीं हूं, दूसरा कोई नहीं हूं, सब से अलग हूं, बाहर जो दिखता है, दूसरे जो दिखते हैं, सब कुछ के बीच हूं,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर सबसे हट कर हूं, पर-तन्त्र नहीं हूं', यह बोध मेरे होने के ही भीतर बैठा रहता है। मुझ-ही में नहीं, मुझ-जैसे सभी में बैठा रहता है। इसीसे व्यवहार बनता है, चलता है। यह भी मैं विचार से ही जानता हूं — व्यवहार में रह कर विचार करता हुआ जानता हूं।

(अचानक कुछ अपनी ही कहनी में और डूबते हुए) कल मैं व्यवहार की बात कर रहा था — 'है', 'नहीं है' के प्रमाण को व्यवहार की धरती पर रख रहा था। पर तुम सबने मिल कर व्यवहार की धरती को ही हवा में उड़ा देने की कोशिश की थी — व्यवहार को तुच्छ, खोखला दिखाना चाहा था। मैं तुम्हारी बातों की युक्ति को यों ही उड़ा नहीं देना चाहता, हालांकि मन तो यही कहता है। लेकिन मुझे लगता है कि तुम्हारी बातों में ठोस विचार भी था। इसलिये मैंने भी अपनी बात पर और विचार किया है। फिर अभी जो कुछ कहा गया है उसने भी कुछ और गहराई से सोचने का मसाला दिया है। अब मेरी बात फिर से सुनो। मैं व्यवहार को फिर होने के केन्द्र में रखता हूं। हम जो कुछ देखते हैं, सोचते हैं, उसका प्रमाण व्यवहार में होता है।

विज्ञान को ही लो। आज विज्ञान को 'क्या है' की, या कहो 'होने की' कसौटी सभी मानते हैं। विज्ञान देखने और सोचने, दोनों को मिल कर बनता भी है — इन्द्रिय और विचार दोनों विज्ञान के स्तंभ हैं। विज्ञान की वस्तु इन्द्रिय से कितनी ही दूर छिटक जाये, कितनी ही विशुद्ध विचार की शरण ले लेती हो — पर इन्द्रिय का आसरा नहीं छोड़ती। पर हम यह मान भी लें कि विज्ञान में विचार ही प्रधान है - विचार के बिना बात बन ही नहीं पाती, तो भी सोचो विज्ञान का प्रमाण कहां है? — व्यवहार ही में तो है! विज्ञान अगर व्यवहार में सच्चा नहीं उतरे तो उसे कौन तूल देगा? कोई उसे सच मानेगा ही नहीं। कोरे विचार का बेसिर-पैर का बतंगड़ कह के उड़ा देगा। अभी आकाश ने दिखाया ही कि बिंदु विचार की अपनी अनहोनी कल्पना है - बिंदु कहीं होता नहीं, पर सब 'कहीं' को वही पकड़ता है। पर सोचो, विचार की ऐसी बेतुकी-लगती कल्पना को हम अपने जगत्-बोध में घर ही क्यों देते हैं? इसीलिये न, क्योंकि विज्ञान के काम आती है! पर विज्ञान को ही हम सत्य की समझ क्यों मानते हैं, उसे सर-आँखों पर और ज्ञान के सिंहासन पर क्यों बैठाते हैं? कारण बताना नहीं होगा — विज्ञान हमारे लिये सबसे बड़ा सच है क्योंकि हमारे सबसे ज़्यादा काम आता है। हमें सुख-भोग देता है। हममें शक्ति की कितनी गहरी प्यास है, कहना न होगा - वह प्यास ज्ञान की प्यास को भी अपने भीतर समेटे रखती है। विज्ञान हमें अपार शक्ति देता है। बिंदु जैसी सूक्ष्म धारणा चाहे ऐसी सूक्ष्म हो कि इन्द्रिय-जगत् के बाहर ही निकल जाती हो, पर वह विज्ञान को जगत् के सूक्ष्म में उतरने का साधन देती है। पर इसका प्रमाण क्या होता है कि हम सचमुच किसी सूक्ष्म में कहीं उतर पाये हैं? प्रमाण व्यवहार ही होता है। जगत् को हम जितनी बारीकी से समझ सकते हैं, जिस भी उपाय से समझें, उतना ही ज़्यादा से ज़्यादा उस पर क़ाबू पा सकते हैं — व्यवहार की सुविधा का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विस्तार कर सकते हैं, शक्ति का विस्तार कर सकते हैं। बिंदु हो या आज के गणित की कोई $\sqrt{-1}$ जैसी असंभव-सी, बेढब-सी संख्या हो, ये सब इस काम में साथ देते हैं, नहीं तो इन्हें कौन पूछेगा? - ये गधे के सर का सींग की तरह बेमानी कल्पना होंगे। और अब तो गणित में संख्या और ज्यामिति का रूप ऐसा होता जा रहा है कि बात किसी को चंडूखाने की गप्प जैसी लगे तो कोई अचंभा नहीं। पर हम उन पर ध्यान देते हैं तो इसलिये कि वे विज्ञान के काम आती हैं, और विज्ञान हमारे काम।

(कुछ सोच कर बात को एक नई, अलग दिशा देते हुए) पर कुछ भी कहूं, एक बात बड़ी अजीब लगती है मुझे। पल्ले नहीं पड़ती। बात पर ध्यान दो। यह देखो कि जो विज्ञान हमारे जाने-माने-से इन्द्रिय-बोध के जगत् को समझने चला था वही अब आगे बढ़ कर जगत् को एक उलटबाँसी बनाये दे रहा है – अनपहचाना ही नहीं, बिलकुल अनबूझ। साधारण बुद्धि की तो बात छोड़ो, विचार के लिये भी विज्ञान के फैलते हुए पसारे से जगत् की कोई पकड़ में आती तस्वीर उभरती नहीं दिखती। 'क्या है' तो बिलकुल 'अनिश्चय' में झूल गया है। स्थिति सब तरफ से विचित्र है – जिसे हम अपना जगत् समझते हैं उसका रूप ही औंधे मुँह लटक गया है – जिस जगत् में हम व्यवहार करते हैं, विज्ञान का जगत् वह तो कदापि नहीं है : विज्ञान के लिये देश और काल दोनों गुँथ कर एक हैं, 'है'-अणुओं के साथ 'नहीं है'-अणुओं का अंबार है जिनका अपना जगत् है, किसी अणु-विशेष की गति को हम आँक ही नहीं सकते, फ़ोटोन जैसा कोई एक अणु-पिण्ड कहां जाता है, जाना नहीं जा सकता – इनके लिये 'कहां' का अर्थ ही पहेली है – बिंदु भी उसे नहीं पकड़ सकता; यही नहीं, फ़ोटोन अणु-पिण्ड है या तरंग, यही नहीं कहा जा सकता। फिर ये अणु काल में आगे ही नहीं पीछे भी चलते हैं; बल्कि विज्ञान के लिये काल के आगे ही चलने का कोई नियम नहीं बनता, काल पीछे भी चलता हो तो विज्ञान के गणित में और चलने की प्रक्रियाओं में कोई अंतर नहीं आयेगा। हम देश के तीन आयाम जानते हैं, चौथा बिंदु की तरह हमारे देश के बाहर ही हो सकता है। पर देश के जाने-पहचाने तीनों आयाम परमाणुओं की गति को नहीं नाप सकते, इसलिये इनके लिये देश के दसियों आयामों की बात है – ये अनगिनत भी निकल आयें तो क्या अचंभा, अगर गणित ठीक बैठ जाये। यों भी वैज्ञानिकों की अटकल तो अनगिनत आकाशों में पर फैलाती देखी जा ही सकती है।

गणित के बिना विज्ञान नहीं होता, पर गणित को देखो तो अजीब से अजीब होता जा रहा है – ढेरों असंगत जान पड़ती संख्यायें भीड़ करने लगी हैं – शून्य और अनंत पुराने हैं - ये भी अजीब ही हैं, पर इन्हें संख्या के क्रम-स्वभाव में ही निहित समझा जा सकता है। पर अब एक नहीं, अनंतों अनंत के ढेर लग गये हैं : छोटा अनंत, बड़ा अनंत, यहां तक कि अनंतों का अनंत, ये मामूली सी बात हैं अब, हरेक की ज़बान पर खेलती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है; फिर ऐसी संख्यायें अब संख्या की गिनती में आ गई हैं जो संख्या के नियम से बनती ही नहीं। $\sqrt{22/7}$ जैसी 'इर्रैशनल' या अयुक्ति-असंगत कहलाती अनिर्धार्य संख्या को छोड़ो, वह तो पुरानी कही जा सकती है, पर असंभव 'काल्पनिक' (इमैजिनरी) संख्यायें अब ज़रूरी हो गई हैं - जैसे मैंने अभी बताया $\sqrt{-1}$। ये संख्यायें तो अब गणित की दाल-रोटी हैं। देवताओं की गप्प या परियों की बेतुकी कहानियों में भी ऐसी अनहोनी नहीं होती जैसी विज्ञान और गणित में होती है — गधे के सिर का सींग तो इसके आगे कुछ भी नहीं — वह तो फिर भी संभव है ही। पर हम विज्ञान के विचित्र असमंजस को गप्प नहीं कहते, *अद्भुत सत्य* समझते हैं। क्यों? किस आधार पर? कारण क्या? - यही न कि व्यवहार में विज्ञान के चमत्कारों का जादू हमारे सिर पर चढ़ कर बोलता है — ऐटम बम किसकी समझ को नहीं चकरा दे सकता? मशीनों का ऐसा मनचाहा अंबार है कि हम उनके बिना रह नहीं सकते। ऐसी चीज़ें न हों तो विज्ञान को केवल विचार के बूते कितनी पूछ मिलती? विशुद्ध विचार के तो और भी कई मार्ग हैं, विज्ञान जैसी ही उड़ानें भरते हैं और विज्ञान से कहीं अधिक संगत भी हैं, उनको तो हम कोरा विचार कह कर उड़ा देने में संकोच नहीं करते! विज्ञान पर जो हम पूरे भरोसे के साथ पूरा विश्वास लुटा देते हैं, इसका कारण साफ़ है - कारण विचार नहीं है, व्यवहार है। फिर एक जड़ की बात यह भी देखो कि विज्ञान भी व्यवहार के बिना अपने को सच्चा नहीं ठहराता — विज्ञान का 'प्रयोग' क्या है? व्यवहार का ही तो दूसरा नाम है! व्यवहार ही में बनता है, व्यवहार के ही साधनों से! तो हम विज्ञान का मोल करते हैं तो व्यवहार ही का मोल करते हैं।

पर व्यवहार विज्ञान नहीं है — विज्ञान से कहीं बड़ा है उसका दायरा। अनुभूति ने पिछली बार ठीक ही कहा था कि व्यवहार का 'है' 'होना चाहिये' से अलग नहीं है। 'होना चाहिये' का धारण विचार करता है तो यही निकलता है कि विज्ञान की तरह विचार के बिना व्यवहार के भी रूप को समझा नहीं जा सकता — विचार के बिना वह बन ही नहीं सकता। भाषा के बिना व्यवहार नहीं होता और भाषा को विचार से अलग नहीं किया जा सकता। यों विचार और व्यवहार मन और शरीर की तरह गुँथे हुए हैं एक दूसरे में। पर विज्ञान ही की तरह इन्द्रियों के बिना भी व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती। पर विज्ञान की कल्पना मनुष्य के बिना की जा सकती है, व्यवहार की नहीं। विज्ञान केवल इन्द्रिय के सत्य में उतरना चाहता है — पर मनुष्य केवल इन्द्रिय नहीं है। शरीर-मन के बिना न मनुष्य होता है न उसका व्यवहार, और शरीर-मन इन्द्रिय नहीं हैं। तभी विज्ञान मनुष्य को नहीं समझ पाता। मनुष्य को समझना हो तो व्यवहार को समझना होगा।

(इतना कह कर जैसे अपनी ही बात पर चौंक-सा जाता है, फिर बात से हट कर कहता है) पर अब सोचता हूं तो मुझे लगता है कि व्यवहार भी एक पहेली है, विज्ञान की ही तरह — क्योंकि उसका होना ही 'है' और 'नहीं है' का मेला है। विचार के बिना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यवहार नहीं होता और विचार तो 'है' के साथ 'नहीं है' की अनहोनी जुगलबंदी ही है। उस दिन मैं सोच रहा था कि 'क्या क्या है' की सूची बनाने में मुश्किल ही क्या है? व्यवहार में रहते हुए हमें 'क्या क्या है' का एक बोध सा रहता ही है — और हम व्यवहार में ही रहते हुए 'क्या है' को जानते-समझते और गिनाते हैं। पर थोड़ा भी अलग हट कर सवाल उठाने लगें, 'व्यवहार क्या है', इस पर विचारने लगें तो दिक्कत खड़ी हो जाती है। 'व्यवहार का जगत् क्या है?' यह सवाल वैसे ही झमेले में फँसा देता है जैसे विज्ञान का जगत्। व्यवहार के भीतर हम जब तक होते हैं सब ठीक रहता है, पर व्यवहार को व्यवहार के बाहर से देखने लगो — उस पर विचार करने लगो - तो कई तरह की उलझनें आगे आती हैं। उस दिन यही तो हुआ था — व्यवहार का अपना होना 'नहीं है' की गांठ में फँसने लगा था।

(कुछ सोच कर) पर विचार जिस के भीतर ही समाया हो वह 'नहीं है' की उलझन से बच भी कैसे सकता है? और विचार से हम हट भी नहीं सकते। वह व्यवहार के भीतर तो है ही, पर बाहर से भी उसे देखना चाहता है — ऐसे विचार की ओर से आँखें मूंद लेने का भी कोई मतलब नहीं बनता। विचार से हम मुँह मोड़ भी नहीं सकते — इस अंधेपन का कोई अर्थ नहीं। यह बात उस दिन भी मुझे दिखने लगी थी, पर अब और खुल कर विचारता हूं तो बरबस अजीब दिशाओं में बह निकलता हूं। 'क्या है' या 'क्या क्या है', यह विचार का प्रश्न है, और विचार करने लगो तो विचार का विस्तार व्यवहार की चौखट से बाहर ही नहीं निकलता, उसे झुठलाने भी लगता है — बड़े विचित्र आकाश खोल सकता है विचार — जैसा विज्ञान से ही स्पष्ट है। पर यह भी देखो कि विज्ञान के देश-काल में, अणु-परमाणुओं में, ऊर्जाओं में, संबंधों में, व्यवहार की अपनी होनी कहीं बनती ही नहीं दिखती है - विज्ञान के लिये व्यवहार का जगत् माया-लोक ही ठहरता है — दिखता है, पर है नहीं। एक मामूली सी चीज़ ही लो — जैसे इस गिलास को ही। यह गिलास हमारी ज़रूरत के बिना — हमारे प्रयोजन के बिना — गिलास ही नहीं हो सकता। पर विज्ञान के लिये ऐसी ज़रूरत या प्रयोजन का कोई अपना होना ही नहीं है। फिर यह देखो कि यह गिलास केवल अणु-परमाणुओं का और उनके आकर्षण-विकर्षण का ढेर ही नहीं है - यह एक समग्र कुछ है, जो समग्र अपने आप में एक *अवयवी* है, जिसकी अणु-परमाणुओं और उनके संबंधों के जगत् से अलग अपनी निजी *होनी* है। पर विज्ञान के लिये ऐसे *अवयवी* का कोई अर्थ नहीं — उसके लिये परमाणुओं के ढेरों से अलग किसी अवयवी का कोई *होना* होना हो ही नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे होने को केवल परमाणुओं और ऊर्जा-तरंगों में घटाया नहीं जा सकता - होने के उस स्तर पर अवयवी को रखा ही नहीं जा सकता। लेकिन विज्ञान ने ज्ञान और सत्य का आदर्श ही ऐसा बनाया है कि उस स्तर को छोड़ नहीं सकता, चाहे उस स्तर पर भी अनहोनी के जंजाल में उलझता जाता हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

- और चाहे उसके प्रमाण के लिये उसे सदा ऐसे यंत्रों का प्रयोजन होता हो जिन्हें *अवयवी* ही कह सकते हैं — अणु-लोक में नहीं, व्यवहार के स्तर पर बने अवयवी। पर अवयवी गिलास और यंत्र ही नहीं होते — मनुष्य भी अवयवी ही है — बड़ा विचित्र अवयवी है मनुष्य, जो अपने व्यवहार के लिये गिलास जैसे अवयवी बनाता है, और यहां तक कि अपने पूरे व्यवहार को ही एक आदर्श अवयवी का रूप देना चाहता रहता है - चाहे व्यवहार कभी मन-चाहे अवयवी का रूप न ले पाता हो। पर यह सारी चेष्टा, इसकी चाह - ये होते व्यवहार के भीतर ही हैं। तभी तो व्यवहार की होनी विचित्र है।

(थोड़ा सा रुक कर) अभी किसी ने — शायद आकाश ने ही — वस्तु की जगह अर्थ की बात की थी। यह बात विज्ञान में नहीं बनती — अर्थ को अवयवी चाहिये — पर व्यवहार में तो बनती ही है — व्यवहार अर्थ के बिना नहीं बनता। व्यवहार की वस्तु अर्थ ही होती है — 'है' और 'होना चाहिये' का मेल। विज्ञान की वस्तु ऐसी नहीं होती — वह विशुद्ध वस्तु होती है। हालाँकि वस्तु अगर जिज्ञासा का फल है — जैसा कि कहा जा रहा था — तो कोई वस्तु विशुद्ध वस्तु नहीं रहती, अर्थ जैसी ही कुछ हो जाती लगती है। इस बात पर घोर आपत्ति भी की ज़ा सकती है - और मुझे भी वस्तु मात्र के अर्थ होने की बात कुछ जमती नहीं दिखती - क्योंकि वस्तु की जिज्ञासा वस्तु को किसी फल या प्रयोजन के रूप में नहीं देख सकती — जिज्ञासा उसे किसी भी अपेक्षा से अलग रख कर *अपने आप* में जानना चाहती है — वस्तु के रूप में, अर्थ के रूप में नहीं। इस रूप में न जान पाये तो अपने को सफल ही नहीं समझेगी जिज्ञासा। पर, हां, व्यवहार की वस्तु अर्थ ही होती है। न हो तो व्यवहार की नहीं होगी।

यहां एक पते की बात देखो। व्यवहार में हम जिसे वस्तु कहते हैं ऐसी ज़्यादातर वस्तुएं हमारी बनाई हुई वस्तुएं होती हैं — समोसा, कचौड़ी, गिलास, घड़ा, कपड़ा, घर, आँगन, यंत्र...। हमारा रहना - या कबीर की तरह 'रहनी' कहो — इन्हीं वस्तुओं के बीच होता है। पर हम वस्तुओं को गिनाते हैं तो इन्हें भी पहाड़, पत्थर, नदी, नाले जैसी वस्तुओं के साथ ही गिना देते हैं, क्योंकि ये भी उसी तरह इन्द्रियों के जानने के घेर में आती हैं। पर समोसा, गिलास..., ये वस्तुएं साफ़ ही नदी, पहाड़... से अलग हैं — नदी, पहाड़ हमारे बिना होते हैं, समोसा, गिलास, ये हमारे बिना नहीं हो सकते। ये हमारी अपेक्षा रखती वस्तुएं हैं। या यों कह सकते हो कि ये 'फल की अपेक्षा रखती वस्तुएं' हैं। या यों भी कहो कि ये 'है' और 'होना चाहिये' का मेल हैं। हम इन्हें बनाते हैं तो इन्हीं से हमारी दुनिया — हमारा व्यवहार - भी बनता है। अगर 'क्या है' की सूची बनाओ तो क्या इनको नदी, नाला, पत्थर, पहाड़, रेत, मिट्टी..., इनसे अलग नहीं रखना चाहिये? ये साफ़ ही अलग हैं। विज्ञान शायद ऐसा नहीं कहेगा, विज्ञान के लिये इनमें और नदी, नाले में कोई *वास्तव* भेद नहीं हो सकता — चाहे हमें *जान पड़ता* हो, पर *हो* नहीं सकता — अणु-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परमाणुओं की अलग ढेरियों में कोई अंतरंग तत्त्व का भेद नहीं हो सकता। पर फिर हम पहाड़, मिट्टी वग़ैरह को समोसा आदि से ही नहीं, पेड़, पौधा, कीड़ा, मकोड़ा, गाय, घोड़ा... इनसे भी अलग नहीं रख सकेंगे – पेड़, पौधे, कीड़े, जीव-जन्तु... ये भी हमारे बनाये नहीं हैं। पर ये भी नदी, पहाड़ से तो बिलकुल अलग हैं। हमारे जैसे ही हैं – इनमें प्राण है। यह भी दिखता है कि ये हमारी तरह ही अर्थ की अपेक्षा रखते हैं – वस्तु में 'है' और 'होना चाहिये' का एक साथ आग्रह रखते हैं – अपने भीतर से ही, अपने होने में ही ये ऐसी अपेक्षा रखते दिखते हैं जो समोसा आदि में नहीं हो सकती। इनमें जीने की साध होती है जो चाह और चाह के फल का आग्रह पालती दिखती है। विज्ञान के लिये तो सब कुछ जड़ है, और जड़ भी अणु-परमाणु और ऊर्जा-तरंग ही है – बाकी जो कुछ दिखता है या होता जान पड़ता है, वह तो इन्द्रजाल ही हो सकता है–प्राण भी, चेतना भी इन्द्रजाल या माया ही हो सकते हैं; हालाँकि चेतना के बिना माया का होना ही कैसा? वह किसे भ्रम में डालती है यह समझ में नहीं आता।

(सबकी ओर देख कर) मैंने 'क्या है' के तीन प्रकार गिना दिये हैं। लग सकता है मैं 'क्या है' की सूची बनाना चाह रहा हूं। पर मेरा ऐसा कोई इरादा नहीं है – बस बहाव में थोड़ा बात से आगे निकल गया था। मैं कहना यह चाह रहा था कि व्यवहार की वस्तु का स्वरूप ही व्यवहार के भीतर से उभरता है, क्योंकि हमारी अपेक्षा में पलता है। लेकिन यह भी देखो कि ऊपर की तीन सूचियों में मैंने जिन्हें अलग अलग गिनाया, ये वस्तुएं व्यवहार का अंग हों तो सभी की सभी व्यवहार की अपेक्षा का भी अंग हो जा सकती हैं – सभी वस्तु से अर्थ बन जा सकती हैं। नदी नाले तो हमारे लिये अर्थ हैं ही – हम उन्हें अपना सा रूप भी देते रहते हैं – बाँध बाँधते हैं, नहरें निकालते हैं – पत्थरों से औज़ार बनाते हैं, घर और किले बनाते हैं - यानी ये हमारे लिये *उपादान* हैं - यों अर्थ हैं। मिट्टी से हम घड़ा बनाते हैं, कपास से कपड़ा। यहां तक कि अणु भी हमारे लिये उपादान होता है – उससे हम ऐटम बम बनाते हैं। पर अणु को या नदी, नाले, पहाड़ इनको वस्तु की सूची में रखें तो पेड़, पौधे, जीव-जंतु इनको भी उसी सूची में रखना ठीक नहीं लगता! ये जड़ नहीं होते, इनमें एक भीतर की चाह, भीतर की प्रेरणा होती है - हमारी तरह इनकी अपनी अपेक्षाएं होती हैं। इनको भी 'वस्तु' कहें तो वस्तु शब्द का अर्थ ही और होगा! उस दिन की बात सोच कर मुझे लगता है कि 'है' की अगर सूचियां बनाई ही जायें तो हर सूची के लिये 'है' का अर्थ भी अलग रखना होगा। अब अगर मुझसे पूछो कि 'है' के अलग अर्थों को अलग रखने का आधार क्या होगा, और ऐसे सवाल करो कि क्या वह आधार भी एक अलग 'है' होगा, तो मैं अभी कुछ नहीं कह पाऊँगा – पर जड़, प्राण और चेतना, यह भेद तो बिन कहे ही सामने आता दिखता है। पेड़, पौधे, जीव, जंतु ये हमारी तरह अपनी अपनी दुनिया बनाते हैं; चिड़िया, बिल्ली, शेर, चीते, मेंढक, साँप, और इनसे भी बढ़ कर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मधुमक्खियां, ततैये, चींटियां, सब अपनी अपनी दुनिया बनाते हैं। हम कह सकते हैं कि सबका अपना 'व्यवहार' होता है। मधुमक्खियों और चींटियों में तो उसका अजब पेचीदा गुँथाव भी होता है। पर हमारी तरह इनका व्यवहार 'है' और 'होना चाहिये' का मेल नहीं होता — इनके व्यवहार में विचार शामिल नहीं होता। तभी उसे व्यवहार कहें भी तो कहने को ही कह सकते हैं। मैं कल अपने आँगन में बैठा कुछ चींटियों को साथ मिल कर चीनी का एक बड़ा सा डला बड़ी जुगत के साथ उठा कर ले जाते देख रहा था। पहले एक चींटी आई। डला उससे नहीं सँभला। फिर कतार में आती दूसरी चींटियों के पास गई। तीन-चार ने आपस में हाथ-पाँव-मुँह मिलाये — कुछ एक-दूसरे के बीच घटा, और फिर पाँच चींटियों ने मिल कर डले को सफ़ाई से एक तरफ खिसकाना शुरु कर दिया। अचानक मन में विचार जागा कि इन चींटियों में अगर विचार होता तो क्या ये भी वस्तु और अर्थ की बात नहीं करतीं? अपने देखने को नहीं देखतीं? देखतीं तो 'है' को 'होना चाहिये' के किसी महत् आदर्श से नहीं जोड़तीं? - यों भी तो वे डले के 'है' को 'बाँबी में होना चाहिये' की ओर बढ़ाती रहती हैं, चाहे अपने किये के बारे में यों सोचती न हों! हम जानवरों के बारे में अनायास ऐसा सोच सकते हैं कि वे भी हमारे जैसे हो सकते हैं - तभी तो पंचतन्त्र जैसी कहानियों में हम इनको तुरत आदमी ही बना देते हैं। पर ये हमसे अलग हैं और ये भी हमारे व्यवहार के घेर में आते हैं तो हमारे *अर्थ* हो जाते हैं — हम इन्हें पालते हैं, काम में लेते हैं। घड़ा, कपड़ा, कुर्सी, मेज़, कलम..., जिनको हम वस्तु के रूप में देखते हैं, ये तो साफ़ ही अर्थ हैं। हममें अपेक्षायें नहीं हों, और बनाने-योग्य विचार नहीं हो तो ये वस्तुएं होंगी ही नहीं।

(अब आकाश की ओर देख कर कुछ झेंपते हुए) आकाश अभी कह रहा था कि विचार सृष्टि करता है — बात मुझे बहुत बेतुकी लगी थी। पर अब देखो मैं विचार कर रहा हूं तो कुछ वैसी ही सी बात नहीं कह रहा हूं? बुरी बला है विचार। लगता है हम विचार करते हैं, पर जब सचमुच करने लगो तो दिखता है कि हम विचार कभी कभी ही कर पाते हैं, और तब जैसे विचार ही हममें कुछ करने लगता है। जो भी हो, अब सोचता हूं तो मुझे लगता है कि अर्थ को हम विचार की सृष्टि कह सकते हैं। समोसा, घड़ा, कुर्सी, इन्हें हम सोच-समझ कर सूझ के साथ *बनाते* हैं। पर यह अकेले विचार की सृष्टि नहीं हैं, अकेला विचार इन्हें नहीं बना सकता — उसे उपादान चाहिये। आम तौर पर हम जिसे वस्तु कहते हैं उसे अपने अर्थ का उपादान बनाते हैं। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर — इन्हें हम पंचभूत कहते हैं। इन्हीं को आज विज्ञान भूत-द्रव्य कहता है।

अब यहां एक तत्त्व की बात सुन लो। मैं समझता हूं कि इन्द्रिय-की-पकड़-में-आती भूत-द्रव्य से बनी सभी चीज़ों को हम वस्तु कह सकते हैं। विज्ञान ऐसा नहीं कहता, पर हमें कहना चाहिये। यों देखो तो जड़-वस्तु, प्राणी और व्यवहार की वस्तु, सब वस्तु-होने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के दायरे में आ जाती हैं। वरना विज्ञान के लिये तो नदी, नाले, पत्थर, पहाड़, रेत, मिट्टी..., ये भी वस्तु नहीं हैं। पर हमारे लिये तो हैं। यें हमें सब अपना अपना अलग रूप लिये दिखते हैं, हम इन्हें पहचानते हैं तभी हम इनको नाम दे पाते हैं। (फिर थोड़ा छटपटाते हुए) पर एक बात सताती है – हम क्या इन्हें अवयवी भी कह सकते हैं? उसी तरह जैसे गिलास और समोसे को अवयवी कहते हैं? ये अवयवी से दिखते तो हैं, पर क्या इन्हें सचमुच अवयवी कहा भी जा सकता है? अवयवी में एक अपना पूरा-पन होता है जो इनमें ठीक बनता नहीं दिखता है। वहां पत्थर का टुकड़ा पड़ा है। बस एक टुकड़ा ही तो है – उसमें अपना कोई पूरा-पन नहीं है। उसे दो टुकड़े कर दो तो क्या होगा? टुकड़े बढ़ जायेंगे पर कोई अवयवी नहीं टूटेगा– पर घड़े को तोड़ने से जैसे एक पूरा कुछ – एक अवयवी - टूट जाता है, वैसा तो कुछ होगा नहीं। तभी तो विज्ञान इन्हें अवयवी नहीं मानता। पर हमें ये फिर भी अवयवी लगते हैं - घड़ा, साड़ी, कलम जैसे न सही – पर लगते अवयवी ही हैं। हमारे लिये इनका अपना नाम-रूप है। मैं समझता हूं ये हमारे लिये वस्तु ही हैं। हां, इन्हें *जड़* वस्तु कह लो, जिनका होना हमारे प्रयोजन से नहीं बनता – अपने आप में है। पर घड़ा, साड़ी, कलम, ये अर्थ भी हैं, प्रयोजन और विचार के बिना रूप ही नहीं ले सकते। तभी ये पक्के अवयवी हैं। ये इन्द्रिय को उपलब्ध जड़-वस्तु और विचार के अद्भुत मेल से बनी सृष्ट-वस्तु हैं। इनमें विचार की स्वतन्त्रता साफ़ दिखती है। साड़ी रुई से ही नहीं, रेशम से भी बन सकती है, कई रूप-रंगों में बन सकती है, और हम चाहें तो टाट से भी, या केले के पेड़ की छाल से बने धागे से, यहां तक कि चाहो तो लोहे या चांदी के तार से भी बन सकती है – उसकी संभावना का अंत नहीं। यह विचार का काम है कि ये सब बिलकुल अलग चीज़ें साड़ी जैसे अवयवी के लिये उपादान हो सकती हैं – जिनमें अवयवी बनाने का विचार नये नये रूप ले सकता है। साड़ी जैसा अवयवी अर्थ तो होता ही है, उसका अपना एक पूरा होना भी होता है, पर साथ ही यह भी देखो कि विचार उसको कितने रूपों में देख सकता है। तभी वह अवयवी ही नहीं, अवयवियों की संभावना है। यहां एक मज़े की बात देखो – संभावना के स्तर उभरते दिखते हैं। यों तो देखो कपड़ा भी अर्थ ही है, हमारी बनाई चीज़ है। पर कपड़े का थान और साड़ी, इनमें फ़र्क है - चाहे दोनों देखने में कुछ एक-जैसे लग सकते हैं। थान के लिये कपड़ा बनाना पहनने के कपड़ों के लिये उपादान बनाना है, पर साड़ी अपने आप में पहनावा होती है, उसके बनाने के विचार में ही फ़र्क होता है – जैसे एक सीढ़ी ऊपर आ जाता है। साड़ी केवल कपड़ा नहीं है - उसका अवयवी होना विचार की अर्थ-साधती चेष्टा का अलग फल है। कपड़ा भी अर्थ तो है, हमारा बनाया हुआ भी है, पर वह जैसे वस्तु ही रह जाता लग सकता है – बस उपादान, जैसा कि पत्थर का टुकड़ा भी हो सकता है। बात को, पता नहीं, मैं ठीक कह पा रहा हूं या नहीं! लगता है बात बिखर रही है, पर बड़ी बात मैं, समझता हूं यह है कि अर्थ का अपनापन ऐसे अवयवी के रूप में ही पूरा होता है जहां

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार की प्ररेणा झलक आती हो। मूल बात यह है कि 'है' और 'होना चाहिये' का युगल-भाव कई स्तरों पर अवयवी होने की ओर ही बढ़ता है। यह बढ़त विचार ही कर सकता है। साड़ी जैसा अर्थ दिखने-छूने में भूत-वस्तु होता है, पर उसका होना स्वरूप से ही अलग है : वह हमारे विचार के भीतर से रूप लेता है - यानी हमारे भीतर उतना ही होता है जितना बाहर — तभी बाहर हम उसको कई तरह से बना सकते हैं, सुधार सकते हैं, निखार सकते हैं — यानी उसमें साफ़ ही 'है' और 'होना चाहिये' का मेल होता है। हम बिना संकोच कह सकते हैं कि वह हमारे विचार की सृष्टि है। बल्कि वह भीतर विचार में ही ज़्यादा घर करती दिखती है, बाहर तो उपादान खोजती है, और उपादान क्या हो, यह भी विचार से ही बनता है।

तो व्यवहार एक अपना जगत् बनाता है — जिसे विचार और इन्द्रिय की जुगलबंदी कहना ठीक लगता है मुझे।

पर व्यवहार के जगत् का *होना* कैसा है? उसके तार तार में 'है' को काटती-मिटाती रहती 'नहीं है' की बुनावट है। हम वस्तुओं के बीच, अर्थों के बीच, देश-काल के बीच, जो कुछ भी देखते-जानते हैं वहां भेद करते चलते हैं — भेद किये बिना कुछ देख-जान ही नहीं सकते। भेद के बिना न विज्ञान बन सकता है, न व्यवहार। पर यह भी देखो कि विज्ञान और व्यवहार, ये दोनों ही भेद अपनी अपनी तरह से करते हैं — हम देख आये हैं कि एक का भेद दूसरे में नहीं बनता। पर दोनों में भेद विचार ही बनाता है। साफ़ ही भेद 'नहीं है' के बिना नहीं बन सकता। पर जो 'है' — चाहे वह जैसा भी हो - उसे अगर हम 'नहीं है' की छुरी से अलग अलग तरह से काट सकते हैं तो फिर भेद का अपना होना कैसा विचित्र, अनहोने जैसा, नहीं हो जाता? विज्ञान अपनी भेद-प्रक्रिया से जो जगत् खड़ा करता है उसमें हमें अपने होने की धरती ही नहीं मिल सकती। पर व्यवहार हमें वह धरती देता है। तो क्या वह धरती अधिक मूल-भूत नहीं है? वहीं रह कर हम विज्ञान या विशुद्ध विचार के आकाश में भ्रमण कर पाते हैं। पर मैं समझता हूं कि इस सैर-सपाटे का अगर व्यवहार से संबंध हो ही नहीं तो वह बेमानी ही होता है — व्यवहार से संबंध ही सार्थकता की कसौटी हो सकती है —जैसा कि विज्ञान में स्पष्ट है।

हां, विचार के लिये उलझनें रह जाती हैं — पर इसका कोई उपाय नहीं — विचार तो उलझन-जीवी है — पर आख़िर रहना तो विचार को भी व्यवहार में ही है। (कुंछ कसमसाते हुए) तुम समझ ही रहे हो कि व्यवहार ही मुझे होने के केन्द्र में दिखाई देता है। पर विचार के झोंकों में आस्था डगमगाती भी है। मुझे लगता है कि व्यवहार का होना होने की धरती है, पर फिर भी व्यवहार पहेली भी रह जाता है। व्यवहार में हमें दिखता है कि हम ऐसे जगत् में घर करते हैं जो हम से स्वतन्त्र है, जो अर्थ का नहीं वस्तु का जगत् है - पर फिर यह कहना आसान नहीं कि वस्तु-जगत् का कहां अंत और व्यवहार-जगत् का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहां आरंभ होता है! यह भेद तो विचार ही करता है, और भिन्न तरह से कर सकता है – विज्ञान के लिये तो वस्तु-जगत् का कहीं अंत ही नहीं, जो कुछ है वही जगत् है, जिसे हम जड़-जगत् भी कह सकते हैं। व्यवहार यह नहीं मान सकता। और यह भी सोचो कि यह *अलग*, अपने-में-स्वतन्त्र जड़-जगत् क्या है – विचार ही इसे अलग कर रहा है, विचार से बाहर इसका आरंभ कहां है, अंत कहां है? वह *अलग* स्वतन्त्र *लगता* तो है पर वह विचार के बिना बनता नहीं दिखता। लगता है वह सीधा इन्द्रियां के आगे जैसा है वैसा खड़ा है। इन्द्रिय पर उसका बिंब यों पड़ता है जैसे इन्द्रियां दर्पण हों। पर सचमुच क्या ऐसा है? ज़रा भी सोचो तो बात बचकानी ही लगती है। सवाल सताने लगे हैं मुझे। पिछली बार इन्द्रियों पर बहुत बात हुई थी। इन्द्रियों का अपना होना क्या है, यही उलझन में डाल रहा था। मैं अगर पूछूं कि इन्द्रिय वस्तु है या अर्थ? - तो क्या कहूंगा, समझ नहीं आता है। फिर अलग अलग इन्द्रियां अलग अलग कुछ पकड़ती हैं, एक ही चीज़ को पकड़ रही हैं, यह वे बता नहीं सकतीं, उनका आपस में सीधा कोई मेल नहीं होता – वे सब मिल कर कोई एक ही दर्पण कैसे बना सकती हैं? फिर आज शिखा ने एक पते की बात कही, वह भी मुझे चुभ रही है – सपने में भी अगर हमारा देखना वैसे ही नाम-रूप-रंग का होता है जैसा जागते में, तो उसे बिना-इन्द्रिय-का-देखना कहने में युक्ति क्या? – यह बात ठीक ही है कि हम सपना देखते हैं तो आँख का गोला घूमता देखा जा सकता है। इसका क्या प्रमाण कि इन्द्रिय *बाहर* ही देखती है? अगर हमारा जागना ही इसका प्रमाण है, जब कि विचार भी जागता है, और हम औरों के साथ जागते हैं, तो साफ़ ही यह कहना कि इन्द्रिय बाहर देखती हैं, यह बात विचार ही कहता दिखता है। फिर भी, हां, इन्द्रियां कुछ देखती-पाती ज़रूर हैं – तभी अलग इन्द्रियों की अलग पकड़ की बात हो सकती है – देखने, छूने, सुनने, स्वाद लेने की बात अलग अलग हो सकती है - अकेला विचार यह काम नहीं कर सकता। पर विचार के बिना किसी 'क्या है' की तो क्या, 'कुछ *है*' की भी बात नहीं हो सकती – इन्द्रिय लाल देखती है, इन्द्रिय के बिना *लाल* की बात नहीं हो सकती, ठीक है, पर 'लाल *है*' यह इन्द्रिय नहीं कह सकती : *कुछ है* - कोई *वस्तु* है – जिसका होना 'लाल होना' है, यह तो इन्द्रिय कह ही नहीं सकती। 'वस्तु' इन्द्रिय को नहीं दिखती, विचार के बिना वस्तु की बात के कोई मानी नहीं। पर इन्द्रिय के बिना विचार के लिये भी 'लाल' का कोई मतलब नहीं। पर यह भी देखो कि लाल को 'लाल' कहते ही बात एकदम से बदल जाती है – इन्द्रिय के पेटे से निकल जाती है। विचार के पेटे में आ जाती है। पर विचार में आ कर बात बड़ी विचित्र भी हो जाती है। लाल अब *रंग* हो जाता है, किसी *वस्तु* का *गुण* हो जाता है। पर वह वस्तु अपने आप में हमारे देखने-छूने-सूंघने से ही नहीं, गुण से भी परे होती है। उसके गुण बदलते रह सकते हैं, वस्तु अलग खड़ी वही की वही रहती है। पर ऐसी भी नहीं हो जाती जैसे विज्ञान के परमाणु या तरंग होते हैं – कहते हैं, अणु को देखने के दायरे में लाया जा सकता है, अगर देख पाने के सही यन्त्र हों,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर उनका कोई अपनापन नहीं होता, परस्पर-विरोधी गुण होते हैं उनमें — वे *एक साथ* अणु भी होते हैं तरंग भी। वे गणित के अंक जैसे होते लगते हैं — उनकी कोई अपनी पहचान नहीं होती, वे जिस क्षण होते हैं उसी क्षण कुछ और हो जा सकते हैं। एक एक की कोई अपनी पहचान, देश-काल में थोड़ी भी स्थिर स्थिति नहीं। एक तरह का एक परमाणु अपनी तरह के दूसरे परमाणु से ठीक ठीक अलग नहीं किया जा सकता। हम वस्तु को *वही* वस्तु कहते हैं, क्योंकि वह स्थिर रहती है — परमाणु को नहीं कह सकते, वह सदा ऐसी गति से जाने-कहां दौड़ता है जो इन्द्रियां तो पकड़ ही नहीं सकतीं। फिर, किसी संख्या की तरह कोई परमाणु वैसे ही दूसरे परमाणु की कभी भी जगह ले सकता है, कोई फ़र्क ही नहीं होगा — जैसे 'एक', 'एक', 'एक', यों तीन बार कहे गये एक में सिर्फ़ कहने के काल का भेद होता है, स्वरूप का नहीं, वैसा ही भेद एक तरह के सभी परमाणुओं में होता है। यों भी हम जिस देश-काल में रहते हैं उसमें तो वे रहते नहीं, तो हमारे लिये उनकी पहचान क्या? पर वस्तु की पहचान होती है, नहीं तो वह वस्तु ही क्या? 'वह' वस्तु 'वही' वस्तु रहती है, तभी उसकी पहचान होती है।

(सामने मेज़ पर सजाये गये एक चिकने, सुडौल पर टेढ़े-मेढ़े पत्थर को उठा कर) पर 'वही' होना भी विचार की ही एक विचित्र स्थिति जान पड़ता है। सच पूछो तो हमारा अवयवी-बोध ही 'वही' की पहचान करता है। और अवयवी की पहचान विचार के बिना नहीं बनती। इस चमकते, दूधिया पत्थर को लो। थोड़ा पारदर्शी भी है — अलग रोशनी में अलग रंग ले लेता है, पर हम *वही* पत्थर कहते हैं। इसका अपना अलग रूप इसे *वही पत्थर* बनाता है — उस रूप के कारण ही इसे यहां सजाया भी गया है। पर दिखने में तो *इसका* कोई *एक* और *वही* रूप कहीं भी नहीं। हम इसे बदलते रूपों में देखते हैं और फिर हम सब जो यहां बैठे हैं इसे अलग अलग जगह से देखते हैं तो हम सबको इसका रूप भी अलग अलग ही दिखता है, लेकिन हम सब इसे वही पत्थर कहते और समझते हैं। यों रूप के साथ *नाम* जुड़ जाता है, तभी इसका न-दिखता एक अवयवी-रूप हमारे मन में रह पाता है, जो इन्द्रिय के देखने में नहीं, विचार की आँखों में ही टिका रहता है। यही इसके *वही* होने का आधार है। यह विचार का ही *वही* है, जो सबमें सामान्य रूप से है — क्योंकि विचार सामान्य हो कर ही रह सकता है। दिखने में तो *वही* पत्थर किसी को नहीं *दिखता*। *देखने* पर ही जाओ तो दिखना जितना बदलेगा और जितने देखने वाले होंगे, उतने ही पत्थर हो जायेंगे। फिर भी अगर हम सभी उसको 'वही पत्थर' कहते हैं तो कहने का आधार देखना तो नहीं हो सकता। नाम ही हो सकता है जो विचार में घर करता है। क्योंकि *वही पत्थर* का विचार ही हम सब में समान है, देखना नहीं — देखना तो विचार के लिये एक संकेत है। विचार ही 'पत्थर' नाम देता है, उसे 'वही' कहता है। विचार में ही पत्थर सब के लिये समान रूप से *वही* होता है। विचार के बल पर ही हम उसे 'उसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तु' के रूप में देखते हैं — जो अपने आप में एक बने-रहते 'वही-भाव' का धारण करती है। तो *वही* एक धारणा है — विचार में ही रह सकती है।

पर सोचो तो बात बड़ी असमंजस में डाल देने वाली है : हम पत्थर को 'वही' कहते हैं तो उसे एक *विशेष* पत्थर मान कर कहते हैं - पर विचार तो विशेष में नहीं *सामान्य* में पलता है — तभी 'पत्थर' यह नाम दे सकता है, जो किसी भी पत्थर का नाम है। पर चलो, हम यह मान लें कि 'वही पत्थर' किसी पत्थर को एक विशेष पत्थर बना देने के लिये कहा जाता है। पर 'वही पत्थर' या 'यही पत्थर' भी तो कोई भी पत्थर हो सकता है - ये विशेष-लगते नाम भी सामान्य हैं। (पृथु की ओर देख कर) पृथु कुछ बीच में ही कहना चाहता है — शायद यह कि इन्द्रियां तो विशेष को देखती हैं, चाहे विचार फिर उसको सामान्य में ढाल देता हो। हमको ऐसा लगता भी है। मैं इस पत्थर की ओर आँख करता हूं तो आँख इसी पत्थर को देखती है — इस *विशेष* को। पर इन्द्रिय अगर विशेष देखती है तो वह विशेष हमारे लिये अनजाना ही रहता है — क्योंकि देखना अगर जानना भी है तो इन्द्रिय अपने आप में कुछ देखती ही नहीं। देखता विचार ही है। इन्द्रिय विचार को कुछ सौंपती है, पर उसे विशेष या सामान्य कुछ नहीं कह सकते - ये दोनों विचार की ही धारणायें हैं। हम इन्द्रिय के देखे के लिये कहते हैं, 'यह विशेष है' — पर इन्द्रिय के लिये न 'है' का कोई अर्थ है, न 'यह' का और न 'विशेष' का। इन्हें विचार देखता है और विचार के लिये सभी सामान्य हैं। सभी विचार की अपनी धारणायें हैं, विचार में ही बनती हैं, इन्द्रिय-बोध में नहीं। विचार ही विशेष को सामान्य से अलग करता है और विचार के विशेष और सामान्य दोनों एक-दूसरे-से-अलग-की-हुई सामान्य धारणायें हैं — एक दूसरे को सम्मुख रखते हुए, एक दूसरे के आमने-सामने ही बनती हैं। थोड़ा भी सोचो तो निकलता यही है कि विशेष सामान्य के बिना कुछ हो नहीं सकता — वह सामान्य के भीतर ही विशेष होता है। यह देखो कि एक बड़े सामान्य के लिये दूसरा छोटा सामान्य विशेष हो जा सकता है, जैसे बरतन के लिये गिलास— गिलास एक *बरतन विशेष* है। जिसे हम सरासर *अपने आप में ही* विशेष कहते हैं, वह इसी क्रम के निचले छोर पर बनता है — वह सामान्य का ही सँकरे-से-सँकरा रूप है, या इसे विचार का वह किनारा कह लो जहां विचार इन्द्रियों के निकटतम होता है - पर वह सामान्य के बाहर नहीं निकलता है। विचार को इन्द्रिय से जो संकेत मिलते हैं उन्हें वह छोटे-बड़े सामान्यों में बाँटता रहता है — सामान्यों के जाल फैलाता है विचार, फिर उन पर भी विचार करता हुआ उनको नये सिरे से बुनता रहता है। कैसी अद्भुत सी बात है — पर विचार इन्द्रिय के देखे को अपने ही जाल में बुन कर देखता है। हम समझते हैं कि हमारे देखने-जानने से बाहर अपने आप में एक जगत् है जिससे इन्द्रियों का सीधा संपर्क होता है। पर यह बात विचार ही कहता है। 'मेरा अकेले का सपना' और 'सबका इन्द्रियों-देखा जगत्' यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंतर भी विचार ही करता है। तभी तो सवाल उठता है कि जगत् अपने आप में कुछ है भी या हमारे विचार की ही बुनावट है — विचार की कही कहानी है, वास्तव कुछ नहीं — चाहे हम सबके लिये कही 'सामान्य' कहानी हो। इन्द्रियां तो अंधी-गूंगी हैं — विचार का अंग बन कर ही कुछ देखती-सुनती हैं। लेकिन अगर ऐसा है कि विचार ही इन्द्रियों के देखे को जगत् का रूप देता है, तो यह चौंका देने वाला सवाल उठे बिना कैसे रह सकता है कि क्या हम जगत् को देखते हैं या बुनते हैं? देख सकते नहीं, क्योंकि इन्द्रियां अपने आप कुछ नहीं देखतीं — तो फिर बुनते हैं, और ऐसा है तो जगत् सच नहीं, कहानी है।

पर मैं यह भी सोचता हूं कि विचार पर इतना संदेह क्यों? इसीलिये न कि विचार अपने ही सोचे पर संदेह कर सकता है, सोचे को अनसोचा कर डाल सकता है? पर विचार के बिना हमारे लिये किसी कुछ होने का अर्थ ही क्या? मेरी समझ में शिखा ने ठीक कहा कि विचार की सच्ची प्रेरणा 'है' की ओर ही है — विचार अपने भीतर ही 'है' को देखना-जानना चाहता है — हमें झूठी कहानी का धोखा नहीं देना चाहता। विचार में 'नहीं है', 'है' का सहभागी है, उसका शत्रु नहीं। हम में अगर यह गहरा बोध है कि जगत् है और हमारी 'क्या है' की जिज्ञासा सार्थक है, तो यह विचार की ही प्रेरणा है, विचार के ही भीतर से उभरती आस्था या श्रद्धा कह लो — पर झूठी नहीं। कह सकते हो कि विचार के लिये जगत् बहुत भिन्न भिन्न रूप लेता उभरता है, जिन रूपों में आपस में कोई मेल नहीं होता। यह ठीक है। पर विचार अगर जगत् को जानने के कई बिलकुल अलग रास्ते लेता है, या भ्रम में भटकता है, पहेलियों में उलझता है, तो यह सोचो कि जगत् क्या अथाह नहीं है? यह भी विचार ही दिखाता है।

(फिर कुछ सोच कर) लेकिन एक बात ज़ोर देकर कहूंगा। हमारे कुछ भी सोचने-समझने की धरती व्यवहार ही रहता है। विचार में हमारा जगत्-बोध ऊह और अपोह की कितनी ही उड़ानें भरता हो, कल्पना के कितने ही आकाश नापता हो, उसकी नींव व्यवहार में ही घर करती है। 'वस्तु' की बात लो — हमारा सब का सामान्य बोध जिसे वहां बाहर इन्द्रिय-लोक में चेतना-से-स्वतन्त्र अपने-आप-में-होती *वस्तु* कहता है, उसे ही लो। विज्ञान में तो ऐसी कोई वस्तु होती नहीं, हालांकि विज्ञान ही इन्द्रिय-के-दिये जड़ भूत-जगत् को गहरे उतर कर देखता है। विज्ञान के लिये यह मेज़ पर सजा पत्थर वस्तु नहीं है, जैसा कि मुझे-तुम्हें दिख रहा है। तो फिर हमारे सबके साधारण देखने में यह पत्थर जैसी *वस्तु* आई कहां से? विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं। नदी, नाला, पहाड़, इन्हें भी हम वस्तु के रूप में देखते हैं — विज्ञान नहीं देखता — फिर हमारे देखने का मूल कहां? मैं कहता हूं, यह देखना व्यवहार से आया है। व्यवहार वस्तु को अर्थ के रूप में देखता है, तभी अवयवी के रूप में उसे पकड़ता है - यह अवयवी ही 'वही' की धारणा में बना रहता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अब मुझसे अगर पूछो कि देखना व्यवहार का ठीक है या विज्ञान का? तो इसका कोई सरल सा उत्तर मेरे पास नहीं है। पर विज्ञान भी अगर अपना प्रमाण व्यवहार की धरती पर ही ढूँढता है तो व्यवहार के सत्य को नकारना विज्ञान की एक मुद्रा भर हो सकती है, उसे स्वीकारना ठीक नहीं ठहरता। असल बात यह है कि विज्ञान अपनी 'क्या है' की जिज्ञासा से *अर्थ* को बिलकुल हटा देना चाहता है, पर अर्थ के बिना हम ही नहीं हैं - तभी हमारी आँख में इन्द्रिय और विचार की जुगलबंदी का बीज हमारे जिस व्यवहार में पड़ता है वहां हम चीज़ों को अर्थ के रूप में देखते हैं। तभी अवयवी के रूप में देखते हैं। विज्ञान का आरंभ ही अर्थ को हटा कर होता है – वहां हम इन्द्रियों के संकेत से उभरते भूत-जगत् को अपने आप में स्वतन्त्र मान कर देखना चाहते हैं, जहां हमारी ही अपेक्षा नहीं। या यों कहो कि विचार ही वहां इन्द्रिय-जगत् को अपने आप से स्वतन्त्र रख कर देखने-जानने का व्रत पालता है।

(कुछ ठिठक कर, ठगा सा हो कर) कुछ ज़्यादा सोचने लगा हूं, लगता है। साधारण सी बात असाधारण होती जाती है। विचार ही बड़ा होता जाता है, बड़ी विचित्र गतियों में उलझाता है। विचार के ही भीतर विषय और वस्तु दोनों दिखते हैं – पर दोनों का यों साथ होना अजीब रहस्य ही लगता है। भीतर कहीं अजीब सी हैरानी होती है – पर बात से इनकार किये भी नहीं बनता। विचार ही आड़े आ जाता है।

(अनुभूति की ओर मुड़ कर) अनुभूति, उस दिन तुम्हारी बातों का बहाव बाँध तोड़ कर बह रहा था। आज तुम्हें ऐसी गुमसुम सी चुप्पी कैसे लग गई है? लगता है किसी गहरी सोच के मँझधार में डूब गई हो। हमारी बातें सुन तो रही हो, पर अनसुने की तरह। बताओ क्या सोच रही हो?

पृथु : अनुभूति को थोड़ी देर और हमारी बातें सुनने की चुप मुद्रा में रहने दो। तब तक मैं कुछ कहना चाहता हूं। सिद्धर्षि ने ठीक समझा था कि मैं कुछ कहना चाहता हूं, पर वह नहीं जो उसने समझा था। उसने ठीक कहा कि देखता-जानता विचार ही है और विचार सामान्य की आँख से देखता है, विशेष सामान्य के भीतर ही विशेष होता है। 'अपने आप में एकदम से विशेष कुछ' यह क्या होगा? यह विचार की ही एक कल्पना लगती है जो 'विशेष' को 'सामान्य' के सामने रख कर उसे सामान्य के अत्यंत प्रतियोगी के रूप में देखना चाहती है। सामान्य छोटा-बड़ा होता है तो विशेष सामान्य की *अपेक्षा* हो जाता है। बरतन–सामान्य की अपेक्षा से ही गिलास विशेष हो जाता है। 'यह गिलास' या 'यह गिलास विशेष' की भी यही स्थिति लगती है। गिलास सामान्य की *अपेक्षा* से ही यह गिलास विशेष है। अपने आप में विशुद्ध विशेष क्या होगा, समझ में नहीं आता। इन्द्रिय जिस लाल को बिना कहे, बिना लाल सामान्य के अंदर रखे देखती है, क्या वह विशेष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है? पर लाल को बिना लाल सामान्य के अंदर रखे उसे लाल समझने का क्या अर्थ बनेगा? विचार ही सामान्य को छोटा से छोटा, सँकरे से सँकरा करते हुए सामान्य के सामान्य-की अपेक्षा-रखते प्रतियोगी *विशेष* के अंतिम छोर तक बढ़ जाना चाहता है।

(कुछ सोच कर बात को दूसरा मोड़ देना चाहते हुए) पर मैं समझता हूं कि इस बात को मानते हुए भी, विशेष के विशेष होने की बात, हम फिर भी कर ही सकते हैं। सामान्य के घेर से एकदम बाहर - या यों कहना चाहिये कि विचार के घेर से एकदम बाहर — केवल इन्द्रिय को ही उपलब्ध विशेष की भी बात कर सकते हैं — और मैं समझता हूं इसीलिये कर सकते हैं क्योंकि हममें विचार है। एक बिलकुल सामने-दिखती बात देखो - हममें विचार है तभी तो हममें से एक एक, हर व्यक्ति एक विशेष है! पर सचमुच विशेष है। मैं अपने को मनुष्य सामान्य में ही 'कोई एक' पाता हुआ भी बहुत *विशेष* पाता हूं। तुम सबको ऐसा ही पाता हूं। हम सभी अपने आप को ऐसा पाते हैं। हम अन्यों को भी विशेष का पूरा एक संसार पाते हैं। सिद्धर्षि, मैं तुम्हें - या हममें से किसी एक को भी — केवल मनुष्य सामान्य का एक *नमूना*, सामान्य के अनगिन नमूनों की एक बानगी या एक सामान्य उदाहरण - तो नहीं समझ सकता। (सिद्धर्षि की ओर आँख कर, उस के कंधे पर हाथ रखते हुए) मैं तुम्हें इन्द्रियों से ही देखता-छूता हूं - पर इसी बोध के साथ मेरे लिये तुम्हारा अपना एक आपा जागता है, एक विशेष, जो अपने आप में अलग अर्थ रखता है, जिसकी मुझे *विशेष* परवाह भी है, जिससे मुझे प्यार है। जो अपने आप में विशेष *अर्थ* रखता है।

सिद्धर्षि, तुमने अर्थ को व्यवहार से, और व्यवहार के बड़े घिरे-सँकरे प्रयोजन से ज़्यादा ही घेर-बाँध कर रख दिया है। वहां *अर्थ* नहीं, *स्वार्थ* है। व्यवहार में प्रयोजन नहीं उपयोग की बात करनी चाहिये। वास्तव अर्थ और उसका प्रयोजन तो निरे व्यवहार के बाहर निकल कर ही बनता है — तभी वह अपने आप में *हो* पाता है, हमारी किसी ज़रूरत के बस नहीं होता। ज़रूरत का होना कोई होना नहीं, ज़रूरत नहीं भी हो सकती थी। यह ठीक है कि अर्थ का होना विचार के बिना नहीं हो सकता, पर विचार ही अर्थ को व्यवहार के संकीर्ण प्रयोजन से बाँध कर तुच्छ नहीं कर देना चाहता। तभी उपयोग की कैद से निकल कर विचार के अपने प्रयोजन से ही अर्थ का आकाश खुलता है। और तभी विशेष का भी अर्थ उभरता है। मनुष्य का अर्थ अगर व्यवहार के सोते-खाते, सुख-भोग-बटोरते जीते रहने में ही समाप्त हो तो उसमें विचार के ही होने का कोई अर्थ नहीं बनेगा। पर केवल जीते रहने की सँकरी गली से हम निकल सकते हैं तभी तो होने के अर्थ की बात कर सकते हैं, और तभी *अपने* भी अर्थ की बात कर सकते हैं! तभी हम एक *व्यक्ति* होते हैं — महज़ सामान्य नहीं। व्यक्ति सामान्य में होता है, पर सामान्य में समा कर अपना विशेष व्यक्तित्व नहीं खो देता — मनुष्य-सामान्य के भीतर भी, सामान्य से अलग व्यक्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का अपना स्वभाव, अपना चरित्र बनता-निखरता है। व्यक्ति अपने आप को 'है' के साथ 'होना चाहिये' की यात्रा के रूप में देखता है – एक *विशेष* यात्रा के रूप में। एक बात, सिद्धर्षि, यह भी सोचो कि *अर्थ* अगर विचार के साथ बनता है तो एक यात्रा ही हो सकता है, क्योंकि विचार भी एक यात्रा ही है - यह बात तुमने कही नहीं, पर तुम्हारी बातों में छाई थी।

(कुछ रुक कर, विचार के दूसरे पक्ष को तोलते हुए) पर मैं जो कह रहा हूं वह सामान्य से इनकार नहीं है – क्योंकि व्यक्ति का *अर्थ* व्यक्ति से ऊपर होता है – जैसे सामान्य विशेष से ऊपर होता है। ऐसा नहीं हो तो हम किसी से कह ही नहीं सकते कि तुम आज अपने आपे में नहीं हो, या यह कि आज तुम तुम नहीं हो! अपने आप में भी हम पाते हैं कि हम आपे में नहीं हैं। साफ़ ही हमारा यह आपा हमसे ऊपर होता है। विशेष होते हुए भी सामान्य होता है – तुम सब देख पाते हो कि मैं आपे में नहीं हूं। यह सामान्य-में-रहती विचार-चेतना के लिये ही विशेष होता है। यह भी देखो, सिद्धर्षि, कि हम इस आपे को – मेरा हो या तुम्हारा, या किसी का भी – उसकी परिस्थिति – या यों कहो कि उसके देश-काल-पात्र से बँधे *व्यवहार* के दायरे से निकाल कर किसी और परिस्थिति में रख दे सकते हैं, और समंजस विचार कर सकते हैं कि ऐसे में 'वह व्यक्ति विशेष' क्या करेगा? ऐसा न हो तो वह *व्यक्ति* विशेष नहीं होगा। मान लो वह तुम हो। व्यक्ति के रूप में हम तुम्हें तुम्हारे आठ पहर के व्यवहार से हटा कर किसी और कल्पना के व्यवहार में रख सकते हैं – तुम्हें *तुम* रखते हुए रख सकते हैं । नई परिस्थिति में भी वह तुम ही होगे – तुम्हारा चरित्र, जो तुम्हारे अभी-यहां-की-इस-रहनी-करनी के कटघरे में बंद नहीं है। तभी तो कहानियां-किस्से-उपन्यास बन सकते हैं – क्योंकि व्यक्ति व्यक्ति रहता हुआ भी एक व्यक्ति से ऊपर रहता सामान्य होता है। तभी हम किसी के *व्यक्तित्व* की बात कर सकते हैं!

(कुछ थोड़ा अलग सोच कर) पर यहां एक पते की बात और देखो। व्यक्ति का विशेष होना तो बड़ा गूढ़-गहरा 'होना' है। यहां कुर्सी के पास आ गिरे इस सूखे-सिकुड़े पत्ते को देखो। व्यवहार में यह किस काम का है? ऐसे पत्तियों का ढेर हो तो शायद जलाने के काम आ सकता है। तुम कहोगे कि इसका होना व्यवहार में रह कर इन्द्रिय और विचार के संगम से बनता है। मतलब यह कि यह उपादान है, और इसका उपयोग में आ पाना इसे उपादान बनाता है। पर इसके उपयोग को भूल कर इसकी अपनी ओर ध्यान दो : इसका रूप-रंग - बल्कि रंग का फीका-धुँधला-पड़ता उड़-गया-पन – और (पत्ते को हाथ में ले कर) इसका रूखा, कुछ कुछ पैना-चुभता सा, उंगलियों-को-छोड़ना-न-चाहता स्पर्श, (सूंघ कर) और एक बहुत दूर से आती सी अनपहचानी गंध, ये क्या इसे एक विशेष अपनापन नहीं देते? तुम कह सकते हो कि पत्ती के 'विशेष' का यह अनुभव इन्द्रिय और विचार के ही मेल से बन पाता है, यह भी नाम-रूप है - हम यह मान भी लें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो भी इन्द्रियां यहां अपनी विशेष दृष्टि रखती दिखती हैं, ऐसी दृष्टि जो इन्द्रियों को व्यवहार की उपयोग-बँधी सीमा से निकाल कर वस्तु के विशेष-बोध, एक अपनी अलग और गहरी पहचान देता है। *अर्थ* देता है। अर्थ के अपने उपयोग-भर से कहीं ऊपर बनते *प्रयोजन* को आगे लाता है। तभी चित्र-कला, मूर्ति-कला रूप लेती हैं। चित्रकार की आँखों से देखो इस पत्ते को - या मूर्त्तिकार की उंगलियों से इसके शरीर की थाह लो — उपयोग से दूर, अर्थ का फैला आकाश खुलता है, जहां कलाकृतियां बनती हैं। यह भी देखो कि कलाकृति व्यक्ति की तरह ही *विशेष* होती हैं। उसका विशेष ही हम सबकी सामान्य-चेतना में व्यंजित होता है।

इसे विचार-चेतना में जागता व्यवहार से मुक्त अर्थ का स्वतन्त्र लोक भी कह सकते हो। या विचार का ही एक दूसरा द्वार कह सकते हो। मैंने जिस आकाश को देखा था और उसके अद्भुत विराट् अचंभे से विभोर हो गया था वह आकाश इसी द्वार से खुलता है। उसके होने की साक्षी इन्द्रिय ही है — और विचार-चेतना तो है ही, पर विचार का वह *देखना* नहीं जिसे तुमने 'वस्तु' का देखना कहा है। यह वस्तु के बंधन से मुक्त अर्थ का देखना है। मुझे लगता है कि जिसे हम वस्तु-को-देखता विचार कहते हैं वही विज्ञान की दिशा भी लेता है और फिर इन्द्रियों से चल कर भी इन्द्रियों से दूर, अलग निकलता हुआ 'वस्तु' के अवयवी-रूप को अपनी गणित की कल्पना में अणु-अणु करता बिखेर देता है। ऐसे जगत् में जा पहुँचता है जहां विचार भी काम नहीं करता, गणित ही काम करता है। सिद्धर्षि, तुमने ठीक कहा कि यह अर्थ से भी अलग, दूर निकल जाने की यात्रा है। इसमें अर्थ फिर व्यवहार ही ला पाता है। पर विचार इसे विचार की वस्तु को अर्थ से निकाल कर उसे पकड़ने की यात्रा भी कह सकता है — तुमने कहा भी।

पर विचार की ऐसी यात्रा भी हो सकती है जो अर्थ को ही बड़ा करती है — वस्तु के बस वस्तु-भर होने की ओर इतना ध्यान नहीं देती। विचार की ऐसी यात्रा में हम इन्द्रिय के साथ चलते हैं तो सौन्दर्य के जगत् का साक्षात् करते हैं। यहां नाम गौण हो जाता है, पर रूप का अथाह समुद्र खुलता है। हम सुन्दर को विचार के साथ नहीं भाव के साथ रखते हैं और भाव को कल्पना-विलासी कहते हैं — उसे किसी मानी में अर्थ के साथ रख भी लें तो भी उसे सत्य का शत्रु ही मानते हैं — इसलिये कि वह वस्तु के *वस्तु-होने* की ओर इतना नहीं झुकता। पर उसे सत्य का शत्रु मानने का कारण क्या? विज्ञान भी तो वस्तु-होने का आदर नहीं करता — अवयवी की कोई कदर नहीं वहां। मैं समझता हूं, सिद्धर्षि, विज्ञान को सत्य का संधानी मानने का यही कारण है कि वह उपयोग की वस्तुएं तैयार कर सकता है। तुमने बात सही पकड़ी है। तुम्हारी बात को बढ़ाते हुए कह सकते हैं कि सुन्दर को सत्य-शत्रु इसलिये मानते हैं कि उसका कोई *उपयोग* नहीं। या ऐसा भी कह देते हैं कि उसका इन्द्रिय के प्रति पक्षपात कुछ अधिक ही है — वह विचार-शत्रु है। इसीलिये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तु-विरोधी भी है। उसे ऐसा बोध बता दिया जाता है जो वस्तु को भूल कर हमारे देखने के लोभ और मन की चकाचौंध को, उसमें उठती भाव की हिलोर को - या आनंद कहो — उसी को विराट् कर देता है, उसीको सब कुछ कर देता है। बाहर की वस्तु से हट कर हम अपने ही भीतर सिमट जाते हैं। और तब विचार नहीं रहता, मन और मन के विचार-हीन उठते-गिरते लहरों जैसे भाव सब कुछ हो जाते हैं। पर, सिद्धर्षि, अगर अर्थ की बात करते हो तो एक बात सोचो — अर्थ के लिये विज्ञान तो प्रमाण हो नहीं सकता, तभी वह भाव को प्रमाण-शत्रु कह सकता है, वह जगत् को भाव से बिलकुल रीता कर के ही देखना चाहता है, विचार से बच नहीं सकता पर उसे भी गणित कर देना चाहता है, और गणित का भाव से कोई संबंध नहीं। पर व्यवहार भाव को अपने जगत् से कैसे अलग कर सकता है? बिना भाव के मनुष्य क्या होगा? - और व्यवहार तो मनुष्य का ही होता है! हम भाव से ही एक-दूसरे को समझते-परखते हैं, भाव से ही मनुष्य के संबंध बनते हैं — इनके बिना व्यवहार की कल्पना ही क्या होगी? और बात दूसरों की ही नहीं है — हमारा अपने आप से जो संबंध बनता है, हमारा *अपनापन* बनता है, अपनेपन की खोज बनती है, अपनेपन को बनाने को जीवन बनता है, भाव के बिना उसकी क्या गति होगी?

(कुछ अपने भीतर डूबते हुए) हम जब कहते हैं कि भाव विचार का शत्रु होता है तो मतलब क्या होता है? विचार का शत्रु तो विचार को भी कहा जा सकता है — अभी कहा जा ही रहा था कि विचार जो ऊह करता है उसी का अपोह भी कर डालता है। यों तो उसकी गति ही अचल ठहराई जा सकती है - या इससे भी बुरी, क्योंकि ऊहापोह से वस्तु और विषय का भेद तो जाना जा ही नहीं सकता; यही हो सकता है कि एक विषय को हटा कर दूसरा बैठा दिया जाये। हम विचार की बात करते हैं तो विचार की उस आँख की बात करते हैं जो वस्तु की ओर - या यों कहना चाहिये कि सत्य की ओर — जागती रहती है। इसी उजागर खोज के भीतर ऊहापोह का कोई *अर्थ* बनता है। पर यह बात क्या भाव में नहीं होती? भाव के भीतर भी एक ऊहापोह जैसी गति देखी जा सकती है, वह युक्ति-तर्क की गति नहीं होती, पर सत्य की आँख वहां भी जागती रहती है। हिंसा और प्रेम दोनों भाव ही हैं — पर भाव की आँख कहती है कि हिंसा उचित नहीं — भाव का सत्य हिंसा में नहीं, प्रेम में है। हमारे दूसरे भाव इस भाव का पूरी दुश्मनी के साथ अपोह भी कर देना चाहते ही हैं, उनका वेग भी हम पर ज्वार की तरह हावी रहता है — पर कहीं भीतर ही भीतर भाव में प्रेम का सत्य उजागर रहता है। उस दिन अनुभूति ने जो बात कही थी उसमें यही संकेत था। भाव का सत्य भी विचार की तरह सामान्य होता है — सबमें जागता है। सिद्धर्षि, तुम यह सोचो कि भाव का यह सत्य हममें कहीं जागता न हो तो जिसे तुम व्यवहार कह रहे हो उसकी नैया पानी के ऊपर रह ही कैसे सकती है? व्यवहार में अगर प्रेम का बीज, प्रेम का 'होना चाहिये' न हो तो हम पलक झपकते लड़-मरेंगे। व्यवहार को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वाहा होते क्या देर लगेगी? तुम ऐटम बम की बात कर ही रहे थे — विज्ञान की, या विचार की कहो, कितनी बड़ी जीत है ऐटम बम — पर जीत किस पर है? विज्ञान कहता है कि प्रकृति पर जीत है - या विचार कह सकता है कि यह विचार की जड़ पर जीत है। पर तुम व्यवहार को मानते हो तो सोचो — क्या यह हिंसा की मनुष्य पर जीत नहीं है? और यह बात कौन बताता है — भाव ही तो बताता है! विचार-चेतना को ही सत्य के साथ रखना चाहो तो यह कह लो कि भाव का अपना विचार होता है जो अर्थ के प्रति जागता है — भाव वह अंधी भँवर नहीं है जो तमस् में बेबस घूमती रहती है, हमें घुमाती रहती है। भाव में वही उजास है, सत्य की वही प्यास है जो विचार में है।

(कुछ और वेग के साथ) और भाव का क्या वस्तु से संबंध है ही नहीं? भाव को हम अर्थ से जोड़ भी लें तो भी उसे वस्तु के साथ नहीं जोड़ना चाहते — किसी ठोस वस्तु के साथ तो बिलकुल नहीं। उलटे वस्तु-बोध को भाव से दूर ही रखना चाहते हैं : अच्छा लगना, बुरा लगना, पसंद-नापसंद, चाह-अनचाह, इनको हम भाव गिनते हैं, और इनको वस्तु की *अपनी* पकड़ से बिलकुल ही हटा रखना चाहते हैं। ठीक भी है कि इनका वस्तु से ही नहीं, सत्य से भी क्या संबंध हो सकता है? और भाव के ये भी स्तर हैं ही। पर विचार में क्या पसंद-नापसंद, चाह-अनचाह नहीं होती? ज़्यादातर तो यही दीखता है — अच्छा-बुरा लगने के संस्कार से ही लोग किसी विचार की ओर झुकते हैं, कितने हैं जो विचार करते हुए किसी विचार को तोल-परख कर स्वीकारते-छोड़ते हैं? विज्ञान को विचार के संस्कारों का कितना सामना करना पड़ा? पर विचार संस्कारों से ऊपर उठा होता है।

भाव भी पसंद-नापसंद के संस्कारों से ऊपर उठा होता है। उसे वस्तु तो नहीं कह सकते पर उसका उदात्त सत्य वस्तु का रूप भी ले सकता है — जैसे उपयोग घड़े और गिलास का रूप लेता है। बुद्ध की मूर्ति को लो, या कृष्ण के त्रिभंग को — क्या ये केवल पसंद-नापसंद की बात हैं? वही ऐसा कहेगा जिसमें भाव कभी जागा ही न हो । बुद्ध का शांत, सत्य-को-पा-कर-निस्पन्द, भव्य-सौम्य, मानो पत्थर को ही निर्मल कर देता भाव उनकी मूर्ति में जागता है; कृष्ण बिलकुल अलग हैं : उनके पोर पोर में मोहिनी है, उनकी बाँसुरी का हमें अपनी-ओर-बुलाता जादू, चुप रहता हुआ भी मूर्त्ति के हर बाँक को जैसे स्वर दे देता है। पर सिर्फ़ ठोस आँखों से ही देखो तो क्या ये इन्द्रिय-की-मोटी-पकड़-में-आती 'वस्तुएं' भर नहीं हैं? पत्थर और ढेले से क्या फ़र्क है इनमें? तुम इन मूर्त्तियों को टुकड़े टुकड़े तोड़ दे सकते हो, या इन्हें चुरा ले जा सकते हो, या इन्हें चोर के सिर पर दे मार सकते हो। ये व्यवहार के *उपयोग* में भी खरी उतरेंगी। पर, सिद्धर्षि, तुमने ढेले, पत्थर और हमारी बनाई हुई चीज़ों में जो भेद किया — और सही, पते का भेद किया — उस भेद को ध्यान में रखो तो प्रयोजन का आँगन व्यवहार के उपयोग से कहीं बड़ा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फैलता नहीं दिखता? अगर गिलास के 'गिलास-वस्तु' होने को व्यवहार और उसके उपयोग से अलग नहीं किया जा सकता तो मूर्तियों के मूर्ति होने को भी भाव के अपने *प्रयोजन* के बिना नहीं समझा जा सकता। पर इसे व्यवहार का स्वार्थ-घिरा, सँकरा प्रयोजन कहना कतई ठीक नहीं होगा। यह भाव के अपने स्वतन्त्र अर्थ का ठोस रूप है जहां देश-काल में बनी, इन्द्रिय-लब्ध अवयवी का रूप लेती वस्तु भी व्यवहार की सँकरी गली से निकल आती है। जैसे विचार में उतरने के लिये विचार की आँख चाहिये, वैसे ही इनमें उतरने के लिये भाव की आँख चाहिये। इनका *वस्तुरूप* इनके भाव से अलग नहीं है। वैसे ही जैसे मैं जो कुछ कह रहा हूं वह सच है तो उसे मेरे *कहने* से – मेरे शब्दों से, और उनसे निकलती ठोस आवाज़ से – अलग नहीं किया जा सकता। भाव यहां जिस धरती पर है उसे अपनी तरह का विचार ही कहना ठीक लगता है – उसका भी प्रयोजन सत्य में उतरना है।

एक पते की बात यहां जोड़ना चाहता हूं। भाव वस्तु का रूप ही नहीं ले सकता है – विचार की भाव-दृष्टि जगत् को अपनी तरह से देखती भी है। भाव की आँख से देखा गया जगत् बड़े अर्थ-गंभीर रूप लेता है – कालिदास ने हिमालय को देवतात्मा कहा है – *अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः*। जगत् को देवतामय देखना मनुष्य की आँख रही ही है – इसे विज्ञान के नाम पर उड़ा देना हममें जागते अर्थ-बोध का ही अपमान है। कबीर को सब कुछ में परम सत्य *दिखता* था, आँखों से दिखता था – *साहब मिल गये तिल ओले* – तिल की ओट भी दिखता था। ऐसी दृष्टि को विज्ञान के नाम पर उड़ा देना अर्थ नहीं रख सकता।

(लगता है अपनी बात कह चुका है, पर जैसे कुछ याद करते हुए) बस एक बात और कहना चाहता हूं। मैं समझता हूं बात कुछ गहरे उतर कर सोचने की है। पिछली बार यह बात बार बार उठ रही थी कि कुछ है ही क्यों, जब कि कुछ भी नहीं भी हो सकता था! मुझे लगता है कि 'है' या 'क्या है' - या यों कहो कि *होने* के ही रहस्य में हम कुछ उतरना चाहें तो इस सवाल को बिलकुल साथ, सम्मुख रखते हुए ही ऐसा कर सकते हैं। आज शिखा ने इस रहस्य पर एक बात कही – कहा कि जगत् कल्पना हो सकता था और इस अर्थ में उसका होना नहीं होने के ही समान होता। पर जगत् कल्पना है नहीं। क्योंकि हमारा विचार जो जगत् को बुनता है, उसके अंतरतम में ही सत्य का, वस्तु के होने का अटूट, अनिवार्य बोध है – तभी विचार विषय को वस्तु से अलग करता चलता है। विचार विषय और वस्तु में भेद करता है, यही उसकी सत्य-प्रेरणा है। यह माना। पर गहरा सवाल यह है कि ऐसा होता ही क्यों है? नहीं भी तो हो सकता था? मैं समझता हूं कि उत्तर भाव की गहराई में ही मिल सकता है। उस सवाल को याद करता हूं जो पहाड़ों में आकाश को देख कर मेरे मन में कौंध उठा था - यह आकाश है या नहीं? सच पूछो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो यह सवाल नहीं था, भाव था — एक अथाह विस्मय का भाव कि आकाश *है*, मैं एक विराट् *है* के बीच खड़ा हूं, उसीके भीतर हूं, उसीके *होते हुए* हूं, एक छोटा सा मैं — *होने* से विभोर, अभिभूत हूं। मैं नहीं भी तो हो सकता था! कुछ नहीं भी हो सकता था — होने को क्या पड़ी थी कि होता? पर उस विस्मय की बात सोचो जो होने के सामने भाव में जाग उठा था — जैसे किसी अतल नींद से जाग उठा था, किसी अगाध, गहरे *नहीं होने* से जाग उठा था! मैं समझता हूं वही *नहीं होने* से हो उठने के रहस्य की कुंजी है। जो कुछ भी 'था' उसे 'था' कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसके *काल* में होने का कोई अर्थ नहीं — वह होने-नहीं होने दोनों से परे था। उसमें अपने को देखने का भाव जागा — विस्मय का बीज जागा — और वह *हुआ,* और अपने को देखते हुए हुआ। विचार इसी की निशानी है।

(अनुभूति की ओर देखते हुए) अनुभूति, तुम तब से अपने ही चुप की मूर्ति बनी हुई हो। यों किस ध्यान में खोई हो? क्या सोच रही हो? लगता है कुछ अलग ही सोच रही हो। कुछ कहोगी नहीं?

अनुभूति : मैं मृत्यु के बारे में सोच रही हूं। मुझे यों भी मृत्यु अपने साथ चलती दिख जाती है अकसर। मैं मृत्यु से पूछूं कि 'क्या है'? तो क्या जवाब मिलेगा। मृत्यु से यही पूछूं कि '*तू* क्या है'? तो भी क्या जवाब मिल सकता है? कुछ समझ में नहीं आता। मृत्यु को किसी होने से क्या मतलब? - चाहे वह होना सत्य हो या केवल किसी कहानी का झूठ? पर जो भी है, वह कहानी हो या न हो, मृत्यु तो कहानी नहीं है — और मृत्यु के साथ सारी कहानियां ख़त्म।

सोचो, मृत्यु का अपना होना कैसा है? मृत्यु के बारे में 'है', 'नहीं है', दोनों ही बातें कुछ मानी रखती नहीं दिखती हैं मुझे। पर क्या मृत्यु को *होना चाहिये*? क्या कहोगे इस पर? अकसर लगता है कि मृत्यु को बस अभी हो जाना चाहिये। पर इसका अर्थ क्या यह बनता है कि ज़ीवन का होना कोई *अर्थ* नहीं रखता? ऐसा कैसे कह सकती हूं? जीवन तो अर्थ की ही तलाश है — *होना चाहिये* की ललक है। अपने अंतरतम में यह प्रेम की प्रेम के लिये ही हूक है। प्रेम की बात मैं पिछली बार भी कर चुकी हूं, इस बार भी करूंगी। प्रेम हममें वह है जो अमिट है, अमृत है। फिर मृत्यु क्या है? लगता है इस से मृत्यु और रहस्यमय हो जाती है। पर प्रेम भी रहस्यमय ही है — प्रेम भी हममें वह है जो हम नहीं हैं — वही हमारा होना है — वही होने का परम अर्थ है, परम सत्य है। वही हममें मृत्यु नहीं है।

प्रेम हममें उतरता है, घर करता है, पर वहीं तक जहां तक हम अपने छोटे से आपे को, ओछे से स्वार्थ को, अपने न-होने-से-होने के मोह को अपने से अलग कर पाते हैं — मृत्यु को सौंप देते हैं। मृत्यु को यों देखो तो मृत्यु किसकी होती है? प्रेम की तो नहीं। पर मृत्यु फिर भी रहस्य तो है ही। मैं मृत्यु को 'है' या 'नहीं है' किसी में नहीं रख पाती। पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह मेरे भीतर की आवाज़ है कि हमारे होने का अर्थ प्रेम का होना है। पर प्रेम भी पहेली ही रहता है। न प्रेम का, न मृत्यु का अर्थ विचार की पकड़ में आता है। मैं नहीं समझती कि इन दोनों को विचार की योजना में सजा कर रखा जा सकता है!

मृत्यु को लो। हर गिनती के बाहर है मृत्यु — पर वह हमारे साथ साथ चलती रहती है। और जीवन मृत्यु पर पलता हुआ दीखता है। अभी लड़ने-मरने की बात किसी ने की थी। लड़ना तो हमारी घुट्टी में है — हम अपनी ही नहीं, दूसरे की मृत्यु भी अपने साथ लिये चलते हैं। जीवों में जीवन की लीला देखो — एक-दूसरे के भक्षण पर जीते हैं। मृत्यु को अपनी नस नस में बसाये रहता है जीवन। पहेली ही नहीं, बड़ी भयानक पहेली है मृत्यु। पर मैं पहेली के सामने खड़ी हो कर विचार करूंगी - चाहे पहेली पहेली ही रह जाये, बात उसके उस पार कहीं न जा पाये।

(कुछ होठों ही होठों में हँसते हुए) वैसे तो हमारे लिये रोज़मर्रा ही है मृत्यु। मैं कहते कहते सोच भी रही हूं कि तुम सब मिल कर मुझे उलाहना दोगे, झिड़कोगे कि किसी न किसी की मृत्यु तो रोज़ होती रहती है — पर दुनिया वैसी ही चलती है, वैसी ही रहती है। क्या बदल जायेगा अगर मेरी अभी, इसी पल मृत्यु हो जाये? जो कुछ है, यों का यों ही रह जायेगा — 'क्या है' की ही तो बात हम कर रहे हैं! फिर कई लोग मृत्यु को मानते ही नहीं - कहते हैं, जिसकी मृत्यु होती है वह एक शरीर से दूसरे में चला जाता है — जैसे पहना हुआ कपड़ा बदल ले। पर इसका मतलब यही हुआ कि लोग मृत्यु का सामना नहीं करना चाहते, उसको किसी तरह झुठलाना चाहते रहते हैं। पर मृत्यु का होना किसी भी होने से कहीं बड़ा है — मेरे तो भीतर से आहट जागती रहती है कि मैं मिट जाऊँगी - पर मैं ही नहीं, सब कुछ मिट जायेगा। तभी मन कहता रहता है कि जीने का, प्रेम का, आदर करो। प्रेम भी हमसे बड़ा है, मृत्यु से भी बड़ा है।

मैं अपने आप को यही कहती रहती हूं। कभी लगता है, फुसलाती रहती हूं — क्योंकि मृत्यु तो पाँव से पाँव मिला कर साथ साथ ही चलती रहती है। पर प्रेम भी साथ नहीं छोड़ता, कहीं झाँकता रहता है।

एक मोटी सी बात पर ध्यान दो। हमने विचार पर बहुत बातें की हैं। मैं भी विचार कर रही हूं। पर मैं जो विचार कर रही हूं, या हममें से कोई भी जो विचार कर रहा है, क्या वह मृत्यु के साथ मिट नहीं जायेगा? — उसका सच-झूठ भी क्या सारा का सारा शून्य नहीं हो जायेगा? तुम कहोगे कि विचार तो मेरा या किसी भी व्यक्ति का नहीं होता — *सामान्य* होता है, सबका होता है, तभी वह व्यक्ति के नहीं रहने पर भी रहता है। पर इससे भी बड़ी बात यह है कि विचार व्यक्ति से ऊपर रहता है, तभी वह सबके लिये एक सर्वजन का जगत् बुनता है। पर 'सबके लिये' कां क्या मतलब? सब मनुष्यों के लिये ही तो? विचार तो आदमी ही करता है! सिद्धर्षि ने कहा कि विचार इन्द्रियों को साथ ले कर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक सामान्य जगत् बुनता है। पर वह जगत् किसके लिये सामान्य होता है? मनुष्य के ही लिये तो! साफ़ ही, दूसरे जीवों के लिये वही जगत् नहीं हो सकता — दूसरे जीव विचार नहीं करते। पर क्या उनके लिये जगत् नहीं होता? और क्या हमारा जगत् हम सबकी आँखों की मिलीजुली माया नहीं हो सकता है? न भी हो तो भी वह जगत् नहीं, केवल मनुष्य का ही जगत् है — हमारी इन्द्रियों और विचार से बना हुआ मनुष्य-जगत्। पर जगत् केवल इन्द्रियों से नहीं बनता क्या? बिल्लियों का भी तो जगत् होता है! हम से अलग ही हो सकता है — बिल्लियों की इन्द्रियां हम से अलग हैं। चींटियों की, मधुमक्खियों की और भी अलग हैं। इनके जगत् हम से और भी सरासर अलग होंगे — ऐसे ही लगते भी हैं। पर सिद्धर्षि, तुम कहोगे कि इनमें विचार नहीं है इसलिये ऐसा है — और यह भी कहोगे कि इसीलिये इनके *जगत्* की बात करना ही नाहक है — जगत् के लिये इन्द्रिय और विचार दोनों का संगम चाहिये।

पर एक बात मैं सोचती हूं। इतना तो हम मान ही सकते हैं कि बिल्ली-चींटी में भी विचार हो सकता था — हममें भी विचार हमारे लाये तो आया नहीं है। तो फिर मेरा सवाल सुनो : अगर इनमें विचार होता तो क्या फिर इनके लिये जगत् होता और हमारे ही जैसा होता? विचार ही यहां यह गवाही नहीं देना चाहता - हम किस आधार पर कह सकते हैं कि विचार हो तो मनुष्य जैसा ही होगा? कहें तो इसी आधार पर कह सकते हैं कि विचार सामान्य होता है, इसलिये जहां भी रूप ले वही रूप लेगा। पर उसका सामान्य होना क्या जाति के भी ऊपर उठ जा सकता है? हम उसे मनुष्य में ही जानते हैं, कहीं और जानते ही नहीं तो कैसे कह सकते हैं कि वह जैसा सामान्य होता है उसका वह सामान्य-भाव मनुष्य में ही नहीं, जीव-मात्र में वही होगा - चीटियों में भी उसका सामान्य वही रहेगा जो हममें है? फिर यह भी सोचो कि विचार का इन्द्रियों से क्या संबंध है? क्या इन्द्रिय-भेद से विचार-भेद नहीं हो जायेगा? इन्द्रियां अगर अलग अलग जीवों में अलग रूप लती हैं तो उसी के अनुसार विचार नहीं बदल जायेगा?

यहां एक गहरी बात है जो हमारे विचार पर विचार में नहीं उभरी है, पर हम उसे मान कर चले हैं। बात सामने आनी चाहिये। जिस विचार के साथ इन्द्रियां मनुष्य के लिये उसका जगत् बनाती हैं, वह विचार वैसा तो नहीं हो सकता जैसा हमारे *सोचने* में — ऊहापोह करने में — जागता है, जहां विचार अपने आप को देखता-जानता-जाँचता चलता है, अपने को देखने की सीढ़ियां चढ़ता चलता है। और फिर ऊहापोह तो मैं, तुम, हम — हर व्यक्ति में अलग जागता है। पर जो विचार हम सबके लिये *एक* मनुष्य-जगत् बुनता है, जिसे *एक* पहचानते हुए हम साथ रहते हैं, जिसमें व्यवहार करते हैं, वह विचार तो व्यक्ति से परे जागता हुआ मनुष्य-जाति में पलता विचार ही हो सकता है। इसे विचार कहना भी अटपटा ही लगता है, हालांकि यह भाषा में रूप लेता है, इन्द्रियों के साथ नाम-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूपों में उभरता है। भाषा को ध्यान में रखते हुए इसे 'विकल्प' कह सकते हो। यह विचार नहीं है, चाहे विचार यहीं से चलता हो। विकल्प व्यक्ति-से-ऊपर-जाति-में-जागता है और कल्पना कर ही सकते हैं कि वह अलग जीव-जातियों में अलग रूप ले। तुम कहोगे, पर ऐसा है तो नहीं — विचार केवल मनुष्य में ही है, और वह व्यक्ति में जागता है, तभी हम जानते हैं कि वह जाति में भी जागता है - चाहे जाति में जागते विचार को विकल्प कहो। दूसरी जातियों में व्यक्ति ही नहीं होते — व्यक्ति की जो झलक दिखती है, जैसी वनमानुष में, वह यही दिखाती है कि उसमें हम-जैसा 'क्या है' पर सोचना-समझना है ही नहीं, और इसके बिना विचार की बात नहीं की जा सकती; यह भी देखो कि उनमें भाषा ही नहीं है।

पर मेरा तात्पर्य सुनो। माना दूसरे जीवों में भाषा नहीं है, उनके लिये नाम-रूप कुछ नहीं होगा — वे मनुष्य की तरह अध्यवसाय नहीं करते कि कुछ है, और फिर उसे नाम-रूप से पहचानते नहीं हैं। पर यह कहना कि जगत् मनुष्य का ही होता है, दूसरे जीवों का नहीं, यह खींचतान की ही बात लगती है। हर जाति के जीव अपना एक अलग जगत् बुनते दिखते ही हैं, चाहे उनमें न विचार होता हो, न विकल्प, चाहे हमारी तरह वे 'क्या है' का सवाल पूछ कर उस पर विचार, और फिर विचार पर विचार न करते हों। पर जिस विचार से - या विकल्प से - हम जगत् बुनते हैं वह भी हमारा सोच-समझ का, ऊहापोह का विचार तो नहीं होता, जैसा हम अभी कर रहे हैं! तो, जो विकल्प-में-स्थिर, अचेतन विचार इन्द्रियों के साथ हमारा जगत् बुनता है वैसा दूसरे जीवों में क्यों नहीं हो सकता? उनके जगत् में भी एक योजना तो होती ही है और अगर भाषा नहीं होती तो यह कह लो कि वहां विचार विकल्प से भी निचले स्तर पर अचेतन रहता है। हम जिसे जड़-जगत् कहते हैं, वहां की योजना को भी हम अचेतन विचार के एक स्तर पर रख सकते हैं - तभी योजना का अर्थ बनता लगता है। हममें विचार का ऊह है तो हम इस संभावना का विचार भी कर सकते हैं। फिर यह भी कल्पना कर सकते हैं कि उजागर, अपने-को-जानते विचार का रूप भी जीव-भेद के साथ भिन्न हो। मैं नहीं समझती कि विचार में जाति-भेद की बात को यों ही टाल दिया जा सकता है। यह ठीक है कि मैं जो कह रही हूं वह एक ऊह ही है, पर इस ऊह का बिना सोचे अपोह मत कर बैठो, बात को कुछ गहराई से सोच कर देखो।

पर एक सवाल फिर भी कचोटता है। हम मनुष्य में जिस जगत्-बुनते जातीय विचार - या कहो विकल्प - की बात कर रहे हैं, जिस *सर्वजन* जगत् की बात कर रहे हैं, वह तभी कर पा रहे हैं कि हममें ऊहापोह भी है, अपने को देखता-जानता उजागर विचार है, और वह भी सामान्य है और हमारी देखती चेतना में ऊपर-चढ़ते कई धरातलों पर जागता है। सच पूछो तो वही *विचार* है। हम यह कल्पना भी कर लें कि ऐसा हममें ही नहीं दूसरे जीवों में भी हो सकता है, तो भी यह कल्पना मुझे अटपटी लगती है कि ऐसे विचार का रूप भी अलग रूप ले सकता है। यह बात *विचार* में उतरती नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर इस विचार के अंत की बात हम सोच सकते हैं — क्योंकि मनुष्य के अंत की बात सोच सकते हैं। मृत्यु तो मेरी ही नहीं, मनुष्य की पूरी जाति की हो जा सकती है। और आज हम आप ही अपने आप को नष्ट करने पर कमर कस कर पूरी तरह आमादा हो ही रहे हैं। तो फिर सत्य क्या हमीं से बँधा है? ऐसा नहीं हो सकता। फिर वह सत्य ही क्या होगा? विचार में इंगित मृत्यु से ऊपर उठ जाने का है — मेरी ही नहीं, मनुष्य-जाति की भी मृत्यु से कहीं ऊपर। तभी उस दिन मेरे मन में अनायास उठा था कि प्रेम की तरह विचार भी काल के बनते-मिटते होते-रहने के निरर्थक जंजाल से ऊपर है। हम काल-यम के ग्रास हैं, पर वह हममें अमृत है।

(थोड़ा रुक कर एक बात को ध्यान में समेटते हुए) तभी विज्ञान जिस जगत् की बात करता है उसके बारे में कहता है कि वह जगत् अपने आप में है - वह मनुष्य की ही क्या किसी भी जीव के होने की अपेक्षा नहीं रखता। पर क्या वह विचार की अपेक्षा नहीं रखता? और गणित को क्या विचार के बाहर रखा जा सकता है? क्या गणित का *होना* ही विचार-चेतना के बिना हो सकता है? पर सार की बात यह है कि विज्ञान का जगत् बड़ा थोथा है — अपने आप में है भी तो निरर्थक है, उसमें प्रेम का कोई स्थान नहीं है। उसका 'है', 'नहीं है' जैसा ही है। फिर यह भी सोचो कि वह जगत् उभरता विचार से है, पर उसमें विचार के लिये ही कोई स्थान नहीं है। सिद्धार्थ ने कहा ही था कि उसमें अणु-परमाणुओं के पिंड हैं, ऊर्जा-तरंगें हैं या पिंड-तरंगें कहो, पर ये तो विचार नहीं हैं, चेतना-हीनता का ऊसर है, उसमें किसी *वस्तु* के लिये, किसी *अवयवी* के अपने *होने* के लिये भी कोई स्थान नहीं है। हम जिस जगत् को जानते हैं, अणु-जगत् उससे बहुत दूर है। एक और गहरे में सताती बात यह उभरती है कि विचार ही यहां मानो किसी मृत्युलोक में अपना विस्तार चाहता है, जहां वह अपने ही अंत की कामना करता लगता है : विज्ञान के जगत् में अणु-पिंडों की गतियों से ही सारा जगत् है — विचार अपने को इन्हीं गतियों की माया मानता है यहां। तो निकलता यही है कि विचार यहां अपने को ही मिटा देने पर तुला है — तभी वहां प्रेम के लिये कोई स्थान नहीं। ऐसा विचार किस काम का जो प्रेम को घर न दे सके?

एक मोटी सी बात और कहना चाहती हूं विज्ञान के बारे में। विज्ञान की धाक इस बात पर है कि वैज्ञानिकों में विचार की बड़ी आपसदारी है, बड़ा आपस में एका है, समर्थन है। पर एका व्यवहार में चमत्कार दिखा देने पर बहुत निर्भर जान पड़ता है, जैसा सिद्धर्षि ने ठीक ही कहा। जो व्यवहार उनके विचार से बनता ही नहीं उसीके आधार पर उनके विचार की धाक है। फिर एका गणित में ही अधिक है, विचार या सिद्धान्त में उतना एका नहीं है। और उनसे अगर पूछो कि जगत् क्या विज्ञान-के-देखे जगत् तक ही सीमित है, तो इस बात पर एका और भी कम दीखेगा — और लगता है कि आगे चल कर घटता ही जायेगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर एक दूसरी बात भी सोचने की है यहां और वह यह है कि विज्ञान जिस विचार की उपज है वह विचार अपने आप में स्वतन्त्र है, सत्य का ग्राहक है, वह हमारे होने की, या किसी जीव के होने की अपेक्षा नहीं रखता, किसी का मुँह नहीं तकता। यह विचार का बड़प्पन है। शिखा की एक बात मेरे मन में बिलकुल चुभ गई है — शिखा ने कहा कि सत्य विचार से अलग कुछ नहीं हो सकता, हो तो हमारे सत्य-संधान का कोई अर्थ नहीं होगा और *होने* का भी कोई अर्थ नहीं होगा — होने और न-होने में क्या अंतर होगा? विषय और वस्तु दोनों अगर विचार के भीतर हैं, और विचार ही उनमें विवेक करता है, तो विचार अपने ही भीतर सत्य को ढूँढता है - या कहो कि अपने *सच्चे होने* को ही ढूँढता है। यही उस में प्रेम का बीज है — प्रेम अपना ही विरह है, अपने ही भीतर अपने प्रिय को खोता है, खोजता है। विज्ञान में उसका प्रेम से, सत्य से अलग हट जाना ही दीखता है मुझे।

जीव के रूप में हमारा बड़प्पन क्या है? यही कि हममें विचार अपने को देखता हुआ, अपने भीतर विवेक करता हुआ रूप लेता है। पर वह हममें हमसे -- हमारे काल-विवश होने से- ऊपर रहता है — तभी सामान्य में बसता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि तभी उसमें प्रेम की प्रेरणा जाग सकती है।

(थोड़ा मनन सा करते हुए) पृथु ने भाव की बात कही और उसे भी विचार ही कहा, या विचार की धरती पर रखा। हम कर्म की बात भी कर सकते हैं — वहां भी हम सत्य की ही तलाश करते हैं। कर्म भी अपनी तरह का विचार ही है। मैं अभी कर्म पर कुछ ज़्यादा विचार नहीं करना चाहती। पर सिद्धार्थ ने व्यवहार की बात की, उसे वह करनी भी चाहिये थी। कर्म का प्रश्न है : हम क्या करें? यह औचित्य का - कर्म के सत्य का — प्रश्न है। इस जिज्ञासा के बिना व्यवहार की बात ही कैसे हो सकती है? पर यह सोचो कि यह प्रश्न मनुष्य में ही होता है। तभी सिद्धार्थ ने भी कहा था कि *व्यवहार* मनुष्य में ही होता है — दूसरे जीवों के जीने को व्यवहार नहीं कह सकते। पर इसीलिये तो कि दूसरे जीव 'हम क्या करें', यह प्रश्न नहीं उठाते। मनुष्य में भाव विचार की तरह ही अपने भीतर अपना सत्य — अपनी *वस्तु* ढूंढता है। तभी यहां प्रेम की झलक और साफ़ दिखती है। हम हिंसा से, स्वार्थ से हट कर ही कर्म की ओर मुड़ते हैं।

(कहने के प्रवाह को कुछ रोक कर) एक मूल सवाल मन में उठ रहा है। विचार अगर हम से ऊपर है — हम *में* है, पर *हमारा* नहीं है — क्योंकि जितना *हमारा* होता है उतना ही सत्य से वंचित होता है — तो फिर सवाल उठता है कि विचार किसका है? उसका आश्रय क्या है? क्या वह अपना ही आश्रय है? पर अपने आप में स्वयं-संपूर्ण हो तो फिर उसमें सत्य के खोज की प्रेरणा कहां से आई? बात समझ में नहीं आती। विचार की यात्रा का आरंभ ही क्यों हुआ? मैं कहती हूं, विचार का आश्रय प्रेम है। पर प्रेम अपना ही आश्रय है — उसमें अपना ही विरह, अपनी ही निरंतर खोज सनातन है। अपने भीतर ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने से अलग होकर प्रेम अपने को तलाशता रहता है — विचार में इसी की छाया है। हममें विचार अपने आप पर उजागर होकर जागता है तो हममें प्रेम भी जागता है। वही हममें अमर है, बाकी सब होते रहने का प्रपंच है, मृत्यु का, काल का कवल है।

(एक मूल आपत्ति की ओर ध्यान देते हुए) एक बात तुम सब अभी पूछ बैठोगे : प्रेम ही है तो यह जगत् का प्रपंच क्यों? इसमें प्रेम कहां, बल्कि प्रेम का उलटा ही है — स्वार्थ और हिंसा की असुर-लीला - वही ताण्डव करती दिखती है। यह मत सोचो कि इस प्रश्न का मेरे पास कोई सीधा, तैयार-सा जवाब है। कहां से हो सकता है? किसके पास हो सकता है? विचार यहां लाचार ही लगता है। पर सवाल पूछता कौन है? प्रेम ही हममें यह सवाल पूछता है — वरना सवाल उठता ही क्यों? पर मैं एक विचार सामने रखती हूं। विरह प्रेम का मर्म है — यों प्रेम में एक द्वैत, एक द्वंद्व घर करता है, वह अपने से अलग हो कर मानो अपने को खो देता है, व्याकुल होता है, भटक जाता है। अपने को नकारने तक लगता है। स्वार्थ, हिंसा, क्रूरता, अनर्गल अत्याचार, वंचना, युद्ध, इनमें प्रेम का ऐसा ही भटकाव है, आत्म-निषेध है। पर ये हमें व्याकुल करते हैं तो इसलिये कि इनके भीतर कहीं प्रेम की लौ-ललक जागती रहती है। नहीं तो इनका होना हमें कचोटे ही क्यों? पर क्यों है प्रेम के भीतर ऐसा घोर द्वंद्व-व्यापार? यह समझ में नहीं आता, सोचना पंगु हो जाता है। यही कहते बनता है कि प्रेम के स्वभाव में विचित्र द्वंद्व है। सच पूछो तो रहस्य ही है प्रेम — उसकी गति विचार की पकड़ में नहीं आती। पर उसके बिना भी होने का कोई अर्थ नहीं।

(सबकी ओर देखते हुए) जानती हूं, देर हो रही है, पर एक बात और कह लेने दो।

प्रेम गति ही है, व्यापार है। मैं सोचती हूं, व्यापार की ओर हमें ध्यान देना चाहिये। हमारा होना *होते रहना* है। और हमारा ही क्यों, सारा *होना* ही *होते रहना* है। पहले भी यह बात कह चुकी हूं, पर अब ज़ोर दे कर कहना चाह रही हूं, क्योंकि होने के बारे में हमने इतना जो कुछ सोचा उस सारे विचार में 'है' का रूप होने की किसी मूर्ति की तरह खड़ा-टिका सा ठहर रहा था। पर 'है' तो गतिमान रहता है — चाहे विज्ञान का जड़-जगत् हो, या जीव-जगत्, या हमारा व्यवहार-जगत्, सब 'है' की किसी धरती पर *खड़े* नहीं रहते, 'होते रहने' के *व्यापार* में चलते रहते हैं। इसी व्यापार में प्रेम का बीज है। प्रेम तो तिल भर भी खड़ा नहीं रहता — खड़ा हो जाये तो 'होगा' ही नहीं; उसका अपने को ढूँढते रहना ही उसका होना है। *अर्थ* प्रेम के आत्म-संधान में उभरता है - अर्थ एक व्यापार ही है। इसे कई धरातलों पर होते देखा जा सकता है। विचार इसे बुनता है — इसे देखता भी है। हमने उस विचार की बात की जो मनुष्य-जाति के लिये इन्द्रियों के माध्यम से एक मनुष्य-जगत् बुनता है — फिर हमीं में उजागर होकर अपने आप को देखता भी है — प्रेम की ओर भी जागता है। दूसरे जीवों में इन्द्रिय-भेद के साथ विचार की गति दूसरे जगत् बुनती है। पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वहां विचार अपने पर उजागर नहीं होता — तभी प्रेम की ओर नहीं मुड़ता। वहां केवल प्राण का व्यापार होता है — प्रेम से अचेत। तभी वहां विचार भी अचेत रहता है - उसमें *वस्तु* की टोह भी नहीं होती। विचार का अपने-को-देखता-जानता व्यापार जागता है तो वस्तु और अर्थ की टोह में जागता है, और तभी प्रेम भी जागता है। टोह का खरापन ही यहां बड़ी बात होती है।

विज्ञान की बात बार बार हो रही है, इसलिये उसी पर बात ख़त्म करती हूं। आज हमें लगता है कि "क्या है', इस प्रश्न का सही उत्तर विज्ञान में है। पर कह चुकी हूं कि विज्ञान जिस जगत् की बात करता है वहां से विचार मानो अपने आप को हटा लेना चाहता है — तभी वह जगत् जड़-जगत् है। पर वहां वस्तु है ही नहीं, व्यापार का पूरा साम्राज्य है। अणु-परमाणु, पिंड-तरंगें, इनमें आकर्षण-विकर्षण की शक्तियां, सब एक व्यापार में रूप लेते हैं — व्यापार के बिना उनका होना क्या? इसे जड़-व्यापार कह सकते हैं। फिर भी यह उभरता हमारे विचार में ही है। उस जगत् के व्यापार में भी कहीं विचार की छाया है तभी हम उसको आँक सकते हैं।

जड़, जीव, और उजागर विचार, इन सारे व्यापारों को साथ रख के देखना चाहिये — तभी उभरता है कि यह अर्थ का व्यापार है। पर अर्थ का बीज प्रेम में ही है — वही अपने को साधता है, अपने में द्वंद्व जगाता अपने को खोजता है।

हमारी बातें बहुत लंबी हो गईं हैं — पर दिखता है विचार करने में कुछ कुशल भी हुई हैं। आगे अब चर्चा और जम कर हो सकेगी। पर आज तो अब उठना चाहिये।

(सभा विसर्जित होती है)

ए ३६-३७ विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, जयपुर - ३०२००६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चित् की आत्मगवेषणा-२

यशदेव शल्य

चेतना अपनी जगत्प्रवृत्ति के सन्तोषण के लिए जीव-रूप धारण करती है और इच्छा-कामना इस प्रवर्तन का मूल होती है। जीव के ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों-युक्त होने का दूसरा कोई हेतु नहीं हो सकता। कहा जा सकता है कि जीव का आविर्भाव तो विराट् भौतिक ब्रह्माण्ड में बहुत अल्प और आगन्तुक जैसा है! किन्तु इस आपत्ति के पीछे यह धारणा है कि जगत् का मूल स्वरूप भौतिक अस्तित्व है जो असीम देश में अनादि काल से ठोस सत्ता-रूप में परिव्याप्त है, जिसमें से किन्हीं रासायनिक क्रियाओं से जीव का उद्भव होता है। किन्तु इस धारणा के मूल में यह भ्रान्ति है कि ठोसपन त्वगिन्द्रिय से और विस्तार दृक् तथा हस्त-पादादि कर्मेन्द्रियों से स्वतन्त्र कुछ हो सकते हैं। हमारे इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि सत्ता ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से आक्षिप्त विषयता मात्र है—जो कुछ है, मेरे देखने और छूने से ही आक्षिप्त है। किन्तु इसका भी कुछ अर्थ नहीं बनता कि मेरे देखने और छूने से स्वतन्त्र जो कुछ है वह स्वतन्त्र रूप से रूपवान् और ठोस भौतिक रूप है। इससे भी अधिक इसका कुछ अर्थ नहीं बनता कि परमाणु आदि का मेरी वैज्ञानिक विकल्प-चेतना से स्वतन्त्र कोई स्वरूप और अस्तित्व है। यहाँ भौतिक सृष्टि विषयक, या कहें भौतिक जगत् के आविर्भाव विषयक आधुनिक वैज्ञानिक अभ्युपगम उल्लेखनीय है। इस अभ्युपगम के अनुसार : और यह ध्यातव्य है कि यह एक भौतिक **विज्ञानमूलक अभ्युपगम** ही है : 'भौतिक जगत् का आविर्भाव एक महत् विस्फोट से हुआ, उसी विस्फोट के साथ देश-काल, अणु-परमाणु और ग्रह-नक्षत्र आदि का आविर्भाव हुआ।' तब क्या उससे पूर्व सत्ता अभौतिक थी, या कि मात्र असत् था? और क्या इस विस्फोट का कोई कारण या निमित्त था या कि कारण-कार्य भाव का आरम्भ भी इस विस्फोट के साथ ही हुआ था और इस प्रकार वह विस्फोट ही आद्य था? इन प्रश्नों पर विज्ञान विचार नहीं करता, क्योंकि भौतिक सत्ता के आविर्भाव के हेतु या निमित्त पर विचार भौतिक विज्ञान का विषय नहीं हो सकता। वह विचार ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के ऋषि की काव्यात्मक कल्पना जैसे रूप में ही हो सकता है। किन्तु तब यह स्पष्ट है कि जीव की उत्पत्ति भौतिक तत्त्व में रासायनिक क्रियाओं से देखने में कोई युक्ति नहीं हो सकती। तब 'जगत् चेतना का जगद्भाव है और यह जगद्भाव उसका कामना-रूप से प्रवर्तन है' इस प्रतिज्ञा को आधारप्रतिज्ञा बना कर चलना अयुक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या इस चेतना का जीव-रूप से स्वतन्त्र कोई रूप भी है और क्या यह निर्जीव चेतना जीव-रूप से प्रवर्तित होती है या कि चेतना स्वरूपत:

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जीव-रूप ही होती है, उससे पृथक् इसका कोई रूप नहीं हो सकता? यह प्रश्न बहुत उलझा हुआ है, क्योंकि इसे समझने के लिए जीव के और चेतना के स्वरूपों को समझना आवश्यक है जो अत्यन्त गुह्य और जटिल है।

जीव प्रकटत: व्यष्टि-रूप से प्रवर्तित होता है—संवेद, ज्ञान और क्रिया जीव-देह को ही आश्रित करते हैं जो व्यष्टि-रूप होती है। किन्तु कामाचार और सन्तानोत्पत्ति के लिए अधिकांश जीव-देह द्विधा विभक्त व्यष्टि-रूप होते हैं और व्यष्टि-देह और व्यष्टि-चित्त दोनों जाति में प्रतिष्ठित, उसकी अनेक-देशीय अभिव्यक्तियों जैसे होते हैं—'मानवीय ज्ञान' अविशिष्ट रूप से मानव-व्यष्टि मात्र के ज्ञान-रूप, या कहें ज्ञान की प्रकारता, का वाचक पद है। ऐसा ही सब जीव-जातियों के लिए है। दैशिक विभाग में ठोस अवस्थिति को सत्ता का धर्म मानना यह हमारा एक आग्रह ही कहा जा सकता है, अन्यथा कोई जीव जितना व्यष्टि-रूप से आत्म-प्रतिष्ठ होता है उतना ही युगल-रूप से, और पुन:, जाति-रूप से आत्म-प्रतिष्ठ होता है। आत्म-प्रतिष्ठा के ये केवल रूप-भेद हैं। निश्चय ही संवेद, ज्ञान और क्रिया एक देह को ही आश्रित करते हैं, किन्तु देह जाति को आश्रित करती है और इसी प्रकार संवेद, ज्ञान और क्रिया के रूप या प्रकार भी जाति को आश्रित करते हैं। इस प्रकार जैव सत्ता केवल व्यष्टि-देह-धर्मी ही नहीं होती, वह उतनी ही जाति-धर्मी भी होती है, यद्यपि जाति की सत्ता देश-कालात्मक नहीं होती। इस तर्क से अन्तत: जीव-मात्र को एक ही चित्सत्ता की अभिव्यक्ति, अथवा एक ही चित्सत्ता का जगद्-वासना से बहुविध आत्म-प्रवर्तन भी कहा जा सकता है। किन्तु इस प्रवर्तन का अर्थ क्या बनता है? इससे चेतना साधना क्या चाहती है? इसका अन्वेष्य क्या है? इच्छाएँ, कामनाएँ उसे प्रवर्तित रखती हैं, इन प्रवृत्तियों के अन्वेष्य भी होते हैं जिनकी कभी सिद्धि होती है, कभी नहीं भी होती, किन्तु सिद्धि अधिकांशत: बहुत प्रयत्न-साध्य, कष्ट-साध्य होती है, जब होती है, और वह केवल तात्कालिक होती है। किन्तु निश्चय ही इस प्रवृत्ति, प्रयत्न और सिद्धि की व्यवस्था बहुत अद्भुत है—इनके साथ अनिवार्यत: आस्वाद, रस्यता, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना जुड़े हैं। किन्तु ये आस्वाद और रस जितने अनुकूल हो सकते हैं उतने ही प्रतिकूल भी हो सकते हैं। फिर रोग हैं, हत्याएँ हैं, वार्द्धक्य है, मृत्यु है—ये सब इस व्यवस्था के अंग हैं। वास्तव में इच्छाएँ अनुकूल रस की आशा के साथ जुड़ी हैं, किन्तु अनुकूल रस उपलब्ध से अधिक अनुपलब्ध ही रहते हैं और उपलब्ध होने पर क्षण-स्थायी ही होते हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था भटकाव, असन्तोष और खेदजनक ही अधिक है। और यदि इस भटकाव और प्रयत्न के अर्थ पर विचार करें, इनकी सफलता की सार्थकता की बात सोचें, तो आश्चर्य होता है कि वह क्या हो सकती है? उपनिषद् में सत्ता को 'रसो वै' कहा गया है। निश्चय ही वह रसमय ही है, किन्तु इस रस्यता का अर्थ क्या? इस व्यवस्था की सबसे बड़ी पहेली तो यह है कि जबकि जीव में जिजीविषा सबसे बड़ा इष्ट है—वैयष्टिक और जातीय दोनों स्तरों पर—सब जीव दूसरे जीव को खा कर ही जी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकते हैं—वनस्पतियों को अपवाद छोड़ते हुए। वनस्पतियाँ केवल दूसरों की भोजन बनती हैं, पर-जीव-भोजी नहीं होती हैं। यह अन्तर्विरोध क्या जगद्भाव के मूल में ही एक अन्तर्विरोध की विद्यमानता नहीं दिखाता? अन्यत्र[1] हमने इस अन्तर्विरोध को चेतना की आत्मोपलब्धि के एक उपाय के रूप में देखा था। ऐसा भी कह सकते हैं। किन्तु कितना कष्टकर है यह उपाय, और जीवन को कितना निरर्थक दिखाने वाला? कम से कम व्यष्टि-जीवन को? यदि चेतना में कुछ अधिक बुद्धि-कौशल होता तो वह कोई दूसरा उपाय भी खोज सकती थी! ऐसा नहीं है कि चेतना में बुद्धि और उपाय-कौशल का अभाव है—प्राणियों के देह-यन्त्र, जनन-कण के रूप में जाति-व्यवस्था, फिर व्यक्तियों में जीवन-रक्षा और जातियों में जाति-संवर्द्धन के उपाय, ये सब अद्भुत बुद्धि और उपाय-कौशल के द्योतक हैं। किन्तु रोग : जो कि जीवाणुओं की परोपजीविता के कारण होते हैं, और दूसरे जीवों की परोपजीविता, ये चेतना की आत्म-गवेषणा के उपाय के रूप में अविचार के द्योतक ही कहे जा सकते हैं। इस पर कहा जा सकता है, और शायद ठीक ही, कि हम अपने तर्क को परम मान कर मूल चेतना के तर्क की युक्तता को परख रहे हैं, जिसे युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। किन्तु ज्ञान और कर्म के साथ रस्यता, अनुकूल वेदना और सौख्य की विद्यमानता इस बात की द्योतक होनी चाहिएं कि चेतना को दु:ख, प्रतिकूल-वेदना की अप्रियता का 'ज्ञान' है और ये उसे अनभीष्ट हैं। वह यदि इनका किसी अनिवार्य उपाय के रूप में प्रयोग नहीं करती तो इनकी विद्यमानता उसकी विवशता या अकुशलता ही होनी चाहिए।

किन्तु वास्तव में तो चेतना का जगद्-रूप में प्रवर्तन ही उसका अवांछित मार्ग में भटकाव कहा जा सकता है। यह मार्ग और गन्तव्य उसको अभिप्रेत ही नहीं था! यह उसका गवेष्य तो नहीं ही है। प्राय: सभी आध्यात्मिक चिन्तकों ने जगत् को अविद्यामूलक ही कहा है, अन्यथा भी जगत् की अविद्यारूपता इस चेतना के आत्मचेतन होने और अपनी उससे पूर्व की प्रवृत्ति को, जिसे हमने उसका जगद्भाव कहा है, अवांछनीय देखने से स्पष्ट है। चेतना आत्मचेतन होने पर अनिवार्यत: इस सत्य का साक्षात्कार करती है कि उसकी सहज प्रवृत्ति, जिसे प्राकृतिक प्रवृत्ति कहा जाता है, वैसी नहीं है जैसी उसे होना चाहिए। वह अपने प्रथम आत्म-साक्षात्कार में ही, जो वह आत्मचेतन हो कर करती है, यह देखती है कि उसकी पूर्व की सहज प्रवृत्तियाँ वे नहीं हैं जो उन्हें होना चाहिए। 'है' और 'होना चाहिए' : वांछित, काम्य, इच्छित और वांछनीय : ये परस्पर विरुद्ध हैं और वांछनीय के पक्ष में वांछा और वांछित का निरोध अनिवार्य है। इसे आध्यात्मिक दर्शनों में आत्म-अनात्म का विवेक कहा गया है और उस सब को अनात्म देखा गया है जो जगत्-प्रवृत्ति-रूप है। आध्यात्मिक दर्शनों की यह प्रतिपत्ति कोई उनकी कल्पना नहीं है जो भ्रान्त

---

१. द्रष्टव्य 'मृत्यु-चिन्तन', तत्त्व-चिन्तन, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, २००३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भी हो सकती है, इस प्रतिपत्ति का चेतना आत्मचेतन होने के साथ सहज रूप से भी साक्षात्कार करती है। इस साक्षात्कार को हमने अन्यत्र[२] इस सद्-असद् बोध को : सत्य-भ्रान्त-बोध के समान ही, जो जीव मात्र में सहज है : आत्मचेतन जीव में सहज कहा है। इस बोध का मूल चेतना के आत्मचेतन होने में ही है, जो चेतना का सहज जगद्भाव से विमुख होना है। जगद्भाव में चेतना जगदुन्मुख ही रहती है—तत्सात्, उसका आत्मा वे वासनाएँ ही होती हैं जो जगत् की मूल हैं—काम, क्षुधा, लोभ, मोह, क्रोध, भय आदि। इसके विपरीत चेतना का आत्मचेतन होना उसका जगद्विमुख होना, प्रत्यङ्मुख होना, है जो हो कर वह अपने जगद्भाव को, उस भाव से अपने तादात्म्य को, अनात्म और अवांछनीय देखती है। अवांछनीय को असद् भी कहा गया है—असत् ही का रूप-भेद, जो युक्त ही है, क्योंकि इसमें चेतना अपने से अपनी विमुखता को, अपने में अपने स्वरूप-वैपरीत्य को, अपने में अपने अभाव और पर-भाव को देखती है।

किन्तु यह कैसे होता है कि चेतना जगच्चेतन से आत्मचेतन हो जाती है? इसका अर्थ होना चाहिए कि जगद्भाव जबकि चेतना का सहज भाव है, यह उसका स्वरूप नहीं है और न उसके लिए अनिवार्य है। वह इस भाव से निवर्तित और विमुख भी हो सकती है। यह ध्यातव्य है कि जगत् भी चेतना का अन्तर्गत अर्थ ही है—देह, इन्द्रियाँ, वासनाएँ और इनके विषय, ये उसकी कामना से ही हैं, जैसा कि पिछले लेख[३] में हमने तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्दों को उद्धृत करते हुए देखा था, और इसी प्रकार उसका यह विकल्पात्मक जगत् : काव्य, शास्त्र, देवालय, मदिरालय, भवन, दुर्ग, यन्त्र, शस्त्र और उपकरण : हैं, जो उसकी कामना से ही हैं। किन्तु इस सब में उसकी उपलब्धि क्या? यह किस सत्य की खोज हैं? या कि यह किसी सत्य की खोज नहीं हैं, केवल ऊर्जा का अदम्य विस्फोट हैं? चेतना ने आत्मचेतन होकर निश्चय ही उससे भिन्न लोकों की यात्रा आरम्भ की जो लोक उसे इससे पूर्व उपलब्ध थे—इस नयी यात्रा से पूर्व भी वह विभिन्न प्रकार की देहों और चित्तों के रूप में प्रवर्तित होकर माँद, घोंसला, छत्ता और बाँबी आदि रचती ही थी, किन्तु अब वह अट्टालिकाएँ, वायुयान, बैंक, कार्पोरेशन्स्, काव्य और शास्त्र रचती है! यह अद्भुत उपलब्धि है, किन्तु यह भी आख़िर जगद्भाव का प्रसार ही तो है! यह दूसरा जगद्भाव क्या अधिक सघन और बृहत् बीहड़ों में ही भटकाव है या कि चिद्गत अर्थों की अभिव्यक्ति और बहु होने की कामना का उत्कृष्टतर चरितार्थन है? इन दो स्थितियों में कम से कम एक भेद है, और आधारभूत भेद, कि यह जगद्भाव उस चेतना का है जो इस भाव से बाहर होकर इसका वरण करती है और कभी भी इसे निरस्त कर सकती है।

---

२. द्रष्टव्य नैतिकता विषयक हमारा लेखन, विशेषत: समाज तथा मूल्य तत्त्व-मीमांसा पुस्तकों में।

३. उन्मीलन, जनवरी २००७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसा कि हमने ऊपर कहा, चेतना का आत्मचेतन होना उसके बाह्योन्मुख प्रवर्तन से आत्मोन्मुख निवर्तन के द्वारा सम्भंव होता है। इसमें चेतना विषय-भाव में तादात्म्य से निवर्तित होकर विषय-विषयि-भाव में उद्भिन्न होती है और इस प्रकार उसके विषय अब अपनी प्रस्तुत विषयिता के विषयों के रूप में प्रस्तुत होते हैं। ये विषय ऐन्द्रिक नहीं होकर विकल्पात्मक : प्रत्यय-रूप : होते हैं, यद्यपि कुछ विकल्प इन्द्रिय-पर्यवसायी भी होते हैं। मनुष्य का यह सम्पूर्ण बाह्य जगत् ऐसा ही : इन्द्रिय-पर्यवसायी : विकल्प-जगत् है। किन्तु मनुष्य शुद्ध विकल्प-विषयों का साक्षात्कारी, या सर्जक कहें, भी होता है—काव्य, कलाएँ, शास्त्र, दर्शन, धर्म-तन्त्र, ये सब शुद्ध विकल्प-विषय-जगत् ही कहे जा सकते हैं। इस पर कहा जा सकता है कि ये सब भी भाषा : लिपि-ध्वनि : आदि के रूप में इन्द्रिय-पर्यवसायी होते हैं। ठीक है, ऐसा भी कहा जा सकता है। सांख्य ने सृष्टि को महत् से महाभूतपर्यन्त जो कहा है उसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि प्रकृति से जगत्-सृष्टि महत् से आरम्भ कर अनिवार्यतः महाभूतपर्यन्त और इस प्रकार इन्द्रिय-पर्यवसायी होती है—महत् से महाभूत तक का क्रम अखण्ड क्रम है, यह बीच में कहीं रुक कर नहीं रह सकता। यद्यपि सांख्य ऐसा नहीं मानता, जैसा कि उसकी सूक्ष्म शरीर की स्वीकृति से स्पष्ट है, किन्तु कोई सांख्य की सूक्ष्म शरीर की प्रतिपत्ति को अस्वीकार भी कर सकता है और कह सकता है कि विकल्पों का इन्द्रिय-विषय-पर्यन्त अवतरण उनकी वास्तवता, या कहें अस्तित्व-लाभ, के लिए अनिवार्य है। यह ठीक है, किन्तु इनकी ऐन्द्रिक प्रस्तुति और भौतिक विषय-जगत् की ऐन्द्रिक प्रस्तुति में अन्तर होता है। इसका भाषा स्पष्टतम उदाहरण प्रस्तुत करती है—भाषा ध्वनि या लिपि में अवतरित हुए बिना भी विचार-भाव आदि की वाहक होती है। उसका यह रूप भौतिक नहीं होता। वास्तव में विकल्प, प्रत्यय और विषयी की विषयात्मक आत्म-प्रस्तुति, जिसे हमने 'अहं ↔ अहं' रूप में देखा है[४], भाषा के इस अनैन्द्रिक माध्यम से ही विषयता-लाभ करते हैं। यही भाषा ध्वनि या लिपि रूप में अवतरित होती है। इस प्रकार 'घट' ध्वनि भाषा-रूप : शब्द : का ध्वन्यात्मक अवतरण है, किन्तु यह अवतरण घटत्व के घट-रूप में अवतरण से पर्याप्त भिन्न होता है—घट-ध्वनि घट-अर्थ के लिए मात्र अनुषंगी होती है, वह चैत्त रूप में, जिसे हम कल्पना और विचार कहते हैं, भी होती है। दूसरे शब्दों में, भाषा, जिसे वाक् का वैखरी रूप कहा गया है, ध्वनि में अवतरण से पूर्व भी अर्थ रूप में होती है, किन्तु उसका वह रूप भौतिक नहीं होता, वह अर्थ का ही व्यक्त चैत्त-रूप होता है। यही बात चित्र, मूर्त्ति, संगीत, नृत्य आदि के लिए भी कही जा सकती है। किन्तु इनका ऐन्द्रिक रूप से पूर्व का चैत्त-रूप वैसा आत्म-प्रतिष्ठ नहीं होता जैसा भाषा का होता है, इसी से इनका ऐन्द्रिक अवतरण भाषा में चित्त के ऐन्द्रिक अवतरण से अधिक गरिम होता है। अब, ये अट्टालिकाएँ,

---

४. चित् की आत्म-गवेषणा, उन्मीलन, जनवरी, २००७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपकरण, यन्त्र आदि भी इसी प्रकार से विकल्पों के ऐन्द्रिक अवतरण ही होते हैं। एक दूसरे प्रकार की विकल्प-सृष्टियाँ होती हैं जो ऐन्द्रिक को आश्रित करती हैं किन्तु ऐन्द्रिक नहीं होतीं, जैसे संस्थाएँ, परिवार, समाज आदि। काव्य, शास्त्र आदि का उल्लेख हम कर ही आये हैं। इस प्रकार विकल्प-जगत् का अनात्मचेतन चेतना के जगत् से यह मौलिक भेद है कि इसके विषय अनवगाह्य अर्थ-राशियों की वीचियों या बुद्बुदों जैसे होते हैं। ये चेतना के स्वरूप के एक अबूझ वैचित्र्य को दर्शित करते हैं। इनके द्वारा चेतना मानो अपने अतल-अन्ध गह्वर के ऊपरी तल को ही देख पाती है, जो तल उसे दिखने के लिए उसके अपने ही भीतर उसका इतर हो जाता है। इसका अर्थ है कि चेतना स्वयंप्रकाश : जैसा हमारे कुछ दर्शन, विशेषत: वेदान्त और सांख्य, उसे मानते हैं : नहीं होकर प्रकाश के लिए अपने से बाहर आने को, अपने में अपना इतर होने को, बाध्य होती है—अनात्मचेतन अवस्था में वह ऐन्द्रिक विषयों में आत्मप्रकाशित होती है और आत्मचेतन अवस्था में वह विकल्पात्मक या विकल्प-व्यवहित-ऐन्द्रिक विषयों में आत्म-प्रकाशित होती है।

किन्तु द्रष्टव्य है कि चेतना का विकल्प-विषयता में आत्म-प्रकाशन चेतना के विषयिता में अर्थ-विजृंभण का अनुवर्ती होता है, वह उसका विषयता मात्र में प्रकाशन नहीं होता। ऐसा ही अनात्मचेतन चेतना के विषय रूप में प्रकाशन में भी होता है। अनात्मचेतन चेतना जो ऐन्द्रिक विषयता में निश्शेष होती है वह अपनी विषयिता के स्वरूप के कारण ही, जो विषयिता वासना-रूप मात्र होती है। इसके विपरीत आत्मचेतन चेतना अपनी विषयिता में ही प्रत्यङ्मुख होकर विकल्पात्मक अर्थों और आत्मीय : विषयितात्मक : अर्थों में विजृंभित होती और इन अर्थों से विषयतया अवगत होती है। तब इसके लिए स्वयं अपनी वासनात्मक विषयिता और विषयता भी विकल्प-विषय हो सकती है, यद्यपि इसमें इसकी वासनात्मक विषयिता भी बनी रहती है। अब, हम जो विचार कर, मनन कर, निदिध्यासन कर विकल्पात्मक अर्थों का अवगाहन करते, उनके अपार और अतल भण्डार में से ईषत् का साक्षात्कार करते और इस प्रकार उनका विषयतया प्रत्यक्ष करते हैं वह उन अर्थों के विषयिता में विजृंभण से ही। इसका यह अर्थ नहीं है कि चेतना कोई अर्थ-कोश है, जिसमें ये अर्थ विषयतया दृश्य होने की प्रतीक्षा में पड़े होते हैं, बल्कि सम्भवत: ऐसा कहना उपयुक्त होगा कि चेतना सृजनात्मतया प्रवर्तित होकर अर्थों में विषयितया विजृंभित और विषयतया प्रकाशित होती है।

किन्तु इस प्रक्रिया का रूप अत्यन्त विचित्र, अव्याख्येय, या अबूझ कहें, है। चेतना की अनात्मचेतन अवस्था में अर्थों के विषयिता में विजृंभण और विषयता में प्रकाशन में मानो अभेद जैसा होता है; उस अवस्था में मानो उसका भीतर : विषयिता : पूर्णत: रिक्त होता है। भीतर-बाहर : विषयिता-विषयता : का भेद चेतना के आत्मचेतन होने पर ही होता है और तब वे ईषत् प्रकट और अपारत: अप्रकट और गुह्य : गुहागत: रूप लेते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इनके इस गुह्य भाग को प्रकट करने के लिए हमें भीतर की ओर संकल्पपूर्वक मुड़ना पड़ता है। कबीर ने जो कहा है–'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ' वह सम्पूर्ण अर्थान्वेषण-व्यापार के लिए सही है, केवल आध्यात्मिक सत्य पाने के लिए ही नहीं। हम प्राय: तो अपनी ओर मुड़ते ही नहीं, अनात्मचेतनवत् ही स्वत:प्रकट अर्थों : प्राकृतिक प्रवृत्तियों : में व्यस्त रहते हैं। किन्तु मुड़ कभी भी सकते हैं। यह मुड़ना अर्थों के प्रकट रूप के वास्तव स्वरूप को समझने के लिए होता है। जैसा कि हमने ऊपर कहा, यह स्वरूप अपार और अगाध होता है और अवगाहन के साथ प्रकट ही नहीं, उत्सृष्ट भी होता है। अर्थात् ये हमारे भीतर कहीं छिपे पड़े नहीं होते जिन्हें हमें खोजना और प्रकट करना होता है, बल्कि इनमें हम सर्जित होते हैं। किन्तु इस सृजन के स्वरूप में एक विचित्र गुत्थी रहती है कि हम इनकी वास्तवता को समझने में भ्रान्त भी हो सकते हैं और दृष्टि-क्षीण भी हो सकते हैं। विज्ञान, शास्त्र, दर्शन, काव्य तथा अन्य कलाएँ आदि अर्थों के ऐसे ही अवगाहन कहे जा सकते हैं। किन्तु सबसे जटिल और अगाध अर्थ आत्मा है, जो चेतना में उसके आत्मचेतन होने के साथ ही आविर्भूत होता है। चेतना का आद्य जगद्भाव इसका स्वरूप नहीं होकर पर-रूप है, यह इसे सहज स्पष्ट होता है, मनुष्य का वस्त्र पहनना अपनी इस आद्य प्राकृतिकता के अस्वीकार का ही द्योतक होता है, कामादि प्रवृत्तियाँ और क्रोधादि आवेग उसके 'आत्म-दर्शन' में बाधक हैं, यह भी वह प्राय: सहज रूप में ही जानता है, किन्तु कब ये उसके लिए आवरण बन कर उपस्थित होते हैं, यह वह अधिकांशत: नहीं जानता। किन्तु यह देखते हुए भी लोक-जीवन और उसमें आत्मीय भाव उसका सहज भाव होता है—जैसे भोजन और उसमें रस्यता, सन्तान और उसके प्रति वात्सल्य और स्तनों में दुग्ध-स्राव आदि। ऐसी अवस्था में जगद्भाव पर-भाव होने पर भी यह लोक-जीवन की अनिवार्यता है और इसकी पर-भावता आत्मचेतन चेतना को केवल बहुत सतर्क होने पर और इसकी अतिशयता में ही प्रकट होती है, साधारण रूप से नहीं। दूसरे, आत्मचेतन चेतना का जगद्भाव भी मात्र ऐन्द्रिक नहीं होता, यह भाव विकल्प-व्यवहित होता है और विकल्प इस भाव को अपार अर्थ-राशियों में रूपान्तरित कर देता है जिनके स्वरूप को यह चेतना समझ नहीं पाती। उदाहरणत: ईर्ष्या, द्वेष, अनुराग, मिथ्याभिमान (जोगी के घर जोगिन और शिव के घर भवानी, राजा के घर रानी और रंक के कौड़ी कानी—रूप) को लें। ये सब भाव विकल्पात्मक चेतना में ही रूप लेते हैं। मिथ्याभिमान तो लोक-जीवन में अधिकांशत: समृद्धि का हेतु भी होता है। मनुष्यता का लक्षण 'काव्य-शास्त्र-विनोद' प्राय: ऐसे अभिमान की वंचकता ही होती है। 'आत्म-सम्मान' का मूल अहंकार और 'परोपकार' का मूल 'कर्त्ताहम्-भाव' प्राय: ही होता है, जिसकी पहचान अत्यन्त सतर्क कर्मयोगी के वश की बात ही होती है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह कर्म-योगीत्व भी आत्मचेतन चेतना में सदैव कार्यरत रहता है—मनुष्य प्राय: ही कर्म औचित्य-विचार के साथ ही करता है, भले ही उसका यह विचार संकल्प-क्षीण अथवा आत्म-प्रवंचनाग्रस्त रहता हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार 'जगद्भाव चेतना में उसका पर-भाव, स्वरूप-वैपरीत्य है' यह बोध चेतना के आत्मचेतन होने पर उसमें सहज रूप से उन्मीलित होता है। किन्तु यह जगद्भाव ही है जिसके साथ वह प्रथमत: प्रवर्तित होती है। **प्रश्नोपनिषद्** जो प्रश्न करती है– 'केनेषितं पतति प्रेषितं मन:, केन प्राण: प्रथम: प्रैति युक्त:' उसका उत्तर हो सकता है कि 'चेतना जगद्भाव से प्रेषित होकर प्रवर्तित होती है।' तब क्या इसका मूल भाव ही इसका पर-रूप, गन्तव्य-विमुख भाव है? आध्यात्मिक दर्शनों ने इसे इसी प्रकार देखा है। यह भी कहा जा सकता है कि चेतना ने स्वयं ही और सहज रूप से ही आत्मचेतन होकर यह देखा है, उसी प्रकार जिस प्रकार प्रथम प्रवर्तन में इसने जगत् को देखा था। आध्यात्मिक दर्शनों ने जगत् का मूल अविद्या में देखा है, यद्यपि इस अविद्या को अनादि भी कहा है और इस प्रकार उन्होंने चेतना की अविद्या-पूर्व की कोई अवस्था नहीं देखी है। किन्तु तब भी उन्होंने चेतना का स्वरूप : कहें, चेतना के पर-रूप का पर-रूप : जगद्भाव से मुक्ति में ही देखा है। अवश्य भारत से बाहर के धर्म-दर्शनों, और बहुत से भारतीय धर्म-दर्शनों ने भी, जगत् को ईश्वरकृत कहा है, किन्तु तब, उनके लिए अविद्या की विद्यमानता और जगद्भाव की अविद्यामूलकता की व्याख्या असम्भव हो जाती है। यही समस्या मूल चेतना : ब्रह्म, पुरुष, ईश्वर : को अविद्या-मुक्त देखने वालों के लिए है। इस समस्या का समाधान यही युक्त प्रतीत होता है कि चेतना के आद्य भाव को जगद्भाव के रूप में ही देखा जाए और जगत् को चेतना का जगद्भाव से प्रवर्तन। यह प्रवर्तन भी चेतना का आत्म-सर्जन ही है, यद्यपि 'स्वयमकुरुत'[५] रूप नहीं, बल्कि सहज स्वभाववश। निश्चय ही इस प्रवर्तन में एक व्यवस्था है, नियम है : ऋत :, योजना और युक्ति है, इसी से बहुत से धर्म-दर्शनों और बहुत से अन्य दर्शनों ने भी जगत् को कृति के रूप में देखा है। किन्तु इसका अर्थ हो जाता है जगत् को चेतना-व्यापार रूप नहीं देख कर चेतना से पृथक् जड़, बल्कि भौतिक कहें, उपादान को घड़ने के रूप में देखना–कुम्हार द्वारा मिट्टी से घट के समान। यह विचार बहुत ही फूहड़ बुद्धि का द्योतक है। इस उपमानात्मक युक्ति में सबसे बड़ा दोष मनुष्य के बुद्धि-व्यापार का आरोप आद्य चेतना पर करने में है। इसलिए जगत् को चेतना के जगद्-भाव के रूप में देखना ही युक्ति-संगत लगता है, जो भाव अपने क्रियान्वयन के क्रम में यह रूप लेता है। किन्तु यही चेतना आत्मचेतन होकर अपने इस प्रवर्तन को अनात्म पाती है। अपने प्रवर्तन को अनात्म पाना उसमें आत्म-निरीक्षण की योग्यता को और अपने प्रवर्तन की दिशा या उसे निरुद्ध करने की योग्यता को पूर्वापेक्षित करता है। यह योग्यता अपने से अपने स्वातन्त्र्य और संकल्प-शक्ति, कर्तृत्व-बोध और औचित्य-अनौचित्य-विवेक को पूर्वापेक्षित करती है। चेतना में इस सबका आविर्भाव उसमें उपकरण-निर्माण-कौशल के आविर्भाव से कहीं अधिक विस्मयजनक है, क्योंकि

५. तैत्तिरीयोपनिषद्, सप्तम् अनुवाक।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपाय-कौशल के बीज तो पाशव चेतना में भी देखे जा सकते हैं, यह बात और है कि विषय-भाव से स्वातन्त्र्य उसकी इस योग्यता को भी एक सर्वथा दूसरा आयाम दे देता है। कर्त्तृत्व-बोध और उचित-अनुचित का विवेक चेतना के अपने प्रवर्तन की इस पहचान में निहित होता है कि उसके द्वारा निष्पन्न की जा रही क्रिया उसकी आत्मा के स्वरूप के अनुरूप है या नहीं? 'मैंने चोरी की या झूठ बोला, यह उचित नहीं है, अर्थात् इस कर्म का तत्त्व मेरे स्वरूप के प्रतिरूप है।' यह बोध पशु में बीज रूप में भी नहीं होता—वे न झूठ बोलते हैं और न चोरी करते हैं, क्योंकि उनमें आत्मा ही नहीं होती जिसके स्वरूप से अनुरूपता-प्रतिरूपता का प्रश्न हो! झूठ बोलना और चोरी करना दोनों अपने कर्म पर अधिकार को पूर्वगृहीत करते हैं और यह अधिकार अधिकारी की सफलता-असफलता को।

किन्तु जैसा कि हमने पीछे कहा, आत्मचेतन चेतना को प्रस्तुत सब अर्थ अपनी निगूढ़ता में अतल होते हैं और इन सब अर्थों से निगूढ़तर अर्थ आत्मा होता है, क्योंकि इस चेतना के सब प्रवर्तन इस अर्थ को ही लक्षित करते हैं। गीता में इसी बात को 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' शब्दों में कहा गया है। हम वैज्ञानिक हैं या दार्शनिक, कवि हैं या संगीतकार, या और कुछ, इसका मूल भी अन्ततः हमारे इसी अर्थ के दर्शन में होता है। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि हमारी यह 'श्रद्धा' या 'स्वभाव' तो हमारे आत्मा से पूर्व, या कहें हमारे आत्म-स्वरूप का निर्धारक, होता है, और तब इस स्वभाव से निर्धारित आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो कर ही हम प्रवर्तित होते हैं। एक सीमा तक यह ठीक है—हम अपने स्वरूप के आद्य संकल्प से पूर्व चेतना के अन्ध गुहागत संस्कारों के साथ उन्मग्न होते हैं और इन संस्कारों की पृष्ठभूमि पर आत्म-संकल्पवान् होते हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी हम अपने आत्मा को उन संस्कारों के पार देख सकते हैं। इसी पार-दर्शन-सामर्थ्य को सम्बोधि, आर्षत्व, संन्यास आदि कहा जाता है। कोई आत्मचेतन व्यक्ति इस सम्बोधि के लेश से पूर्णतः रहित नहीं होता। किन्तु संकल्प-बल या बलहीनता का भेद प्रतिव्यक्ति-भेद से भिन्न रहता है। इस भेद का स्रोत क्या होता है? इस पर व्यक्ति का वश होने का अर्थ होगा व्यक्ति का अपने संकल्प से पूर्व होना, जो वदतोव्याघात होगा। यह वास्तव में ही बहुत बड़ी गुत्थी है जिसका तार्किक समाधान नहीं हो सकता, केवल यह कहा जा सकता है कि आत्मसंकल्पवान् होकर ही व्यक्ति, या कहें संकल्प, अपने में बल ला सकता है या बलहीन रह सकता है। इसे उत्प्रेक्षात्मक रूप से 'ईश्वरीय कृपा के अधीन' भी कहा जा सकता है, जिसका अर्थ होता है कि यह : संकल्प-बल या बलहीनता : संकल्प से बाहर की बात होती है। किन्तु वास्तव में चेतना का आत्मचेतन होना इस अतर्क्यता का घटित होना भी है कि यह आप अपने से पूर्व, आप अपनी कर्त्तृ, अपनी अधिष्ठातृ हो सकती है। इसी से व्यक्ति को अपने बलाबल का साक्षी भी होना होता है और इसी से वह अपनी दुर्बलता के लिए उत्तरदायी भी होता है। आत्मा का यह आत्मकर्त्तृत्व चेतना की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यङ्मुखता में निहित होता है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि यह संकल्प, उससे भी अधिक संकल्प-बल, बहुत दुर्लभ होता है। प्राय: ही हम 'प्रवाह के जीव' रहते हैं—इच्छाओं, वासनाओं, संस्कारों के अधीन। अब, संकल्प कर्त्तव्य-निर्णय, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक को पूर्वापेक्षित करता है। अधिकांशत: यह निर्णय अत्यधिक दुस्साध्य होता है, क्योंकि यह चित्त की पूर्ण निर्मलता, राग-द्वेष-विहीनता और तर्क-बुद्धि की कुशाग्रता इस सबको पूर्वापेक्षित करता है। गीता ने यह कवियों : ऋषियों : के लिए भी दुर्गम जो कहा है उसका अर्थ है कि चित्त की निर्मलता और बुद्धि की कुशाग्रता अपनी पराकाष्ठा में होने पर भी यह निर्णय अयुक्त हो सकता है[६]—चींटों, तिलचट्टों, मच्छरों आदि को मारना चाहिए या नहीं? भोजन के आस्वाद के प्रति रसिकता, वस्त्रों की सुरुचिपूर्णता के प्रति आग्रह आदि होना चाहिए या नहीं? हीर-राझा के जैसा प्रेम-दीवानापन, रानी का गीत सुनकर दुष्यन्त के हृदय में उपजी उद्विग्नता, ये वांछनीय हैं या नहीं? अपने बच्चे के दुराचारी होने पर खिन्न होना चाहिए या नहीं? सबसे बढ़ कर, क्या सिद्धार्थ को अपनी पत्नी-बच्चे को छोड़कर जाना चाहिए था या नहीं? निश्चय ही सम्बुद्ध सिद्धार्थ के लिए ये प्रश्न उपस्थित नहीं होंगे, किन्तु क्या दूसरों के लिए इन मन:स्थितियों का होना अवांछिनीय ही है और क्या सिद्धार्थ विषयक प्रश्न सबके लिए समान रूप से अ-प्रश्न हो सकते हैं? बुद्ध की सम्बोधि, तुलसी की भक्ति, रामकृष्ण परमहंस की उद्दाम भावमयता, मीरा का प्रेम और हीर का प्रेम, ये सब एक ही नहीं हैं, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की चित्स्थितियाँ हैं।

इस पर कहा जा सकता है कि ये सब वांछनीय हैं, किन्तु इनमें चेतना में स्तर-भेद और प्रकार-भेद है। वांछनीयता का प्रश्न इन प्रकारों में चुनाव को लेकर नहीं है, वह प्रश्न इन प्रकारों के भीतर उपस्थित कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक को ले कर ही हो सकता है, इनसे पृथक् इन प्रश्नों का कोई अर्थ नहीं बनता। यद्यपि गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन से यह कहने—कि "मैंने तुझे कर्म का तत्त्व बता दिया, अब यह तू देख कि तुझे क्या करना है"—का यह अर्थ नहीं है, किन्तु इसका युक्त अर्थ इसी आधार पर बनता है।

किन्तु यह एक सीमा तक ही सही है, और बहुत दूर तक, किन्तु पूरी तरह नहीं। उदाहरणत:, दुष्यन्त की पर्युत्सुकता मन का एक सहज भाव है जो साधारण व्यक्ति के संवेदनशील होने पर कभी उसमें उत्पन्न हो सकता है, ऐसे व्यक्ति में ऐसी संवेदनशीलता वांछनीय भी है, उसका अभाव उस व्यक्ति में न्यूनता का लक्षण ही कहा जाएगा। किन्तु तब ऐसे व्यक्ति के सम्मुख यह प्रश्न हो सकता है कि क्या उसे चेतना के इस स्तर से ही

---

६. इस परिस्थिति पर हमने 'सत्य', उन्मीलन जुलाई २००३ तथा 'नैतिक चिन्तन : भारतीय दृष्टि' समाज : दार्शनिक परिशीलन, द्वितीय संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, २००५ में गहराई से विचार किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊपर नहीं उठना चाहिए?—उस स्तर पर जिस पर संवेदनशीलता भी हो, और वह भी अपनी पराकाष्ठा में, किन्तु तब भी पर्युत्सुकीभाव के लिए अवकाश नहीं हो?—जैसे बुद्ध की महाकरुणा में या रामकृष्ण परमहंस की भावोद्दामता में था? सम्भवत: चेतना के लिए यह परमोत्तरण ही गवेष्य है, और जब वही पार्यन्तिक गवेषणा है तब उसी का संकल्प होना चाहिए! किन्तु वह स्तर सिद्ध नहीं होने पर सिद्ध स्तर पर ही आत्म-विवेचन होना चाहिए! किन्तु इस विवेचन में विवेच्य क्या होगा? विवेचन की दिशा और प्रसंग क्या होगा? क्या दुष्यन्त को अपनी इस प्रकार की पर्युत्सुकताओं का निराकरण करना चाहिए? किन्तु ग़ालिब यदि ऐसी पर्युत्सुकता को निराकरणीय मानता तो हम उस अपार अर्थ-राशि से वंचित रह जाते जो उसने अपने अद्भुत काव्य के रूप में हमें दी। सम्भवत: इस प्रकार के प्रश्नों के कोई आत्यन्तिक उत्तर सम्भव नहीं हो सकते। किन्तु द्रष्टव्य है कि इन सब स्तरों पर, शायद परम सम्बुद्ध के स्तर को छोड़ कर, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के या आत्म-संकल्प के अनेक प्रसंग हो सकते हैं जिनमें व्यक्ति के सम्मुख धर्म-संकट की असमाधेय स्थिति उत्पन्न हो।

यहां ऐसा आपादित प्रतीत हो सकता है मानो आत्मचेतना वैयक्तिक : वैयष्टिक : होती है और इस प्रकार आत्मा प्रतिव्यक्ति विशिष्ट होती है। सांख्य ने इसी भाव से 'प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरंभ:' कहा है, यद्यपि उसका पुरुष निर्गुण होने से किसी भी प्रकार से वैयक्तिक नहीं हो सकता। किन्तु कहा जा सकता है कि आत्मचेतन तो व्यक्ति ही हो सकता है, और यह आत्मा सांख्य के पुरुष जैसा नहीं होता, यह वैयक्तिक अहं-बोध ही होता है, इसके अतिरिक्त 'मोक्ष का अन्वेषण' भी वैयक्तिक अन्वेषण ही हो सकता है। ऐसा ही हमारे ऊपर के विवेचन में भी आपादित देखा जा सकता है। पाश्चात्य दर्शन का 'इगो' और 'सेल्फ' ही नहीं, शंकर का अस्मत्-प्रत्यय भी वैयक्तिक रूप से ही कल्पित है, जबकि शांकर आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है और ब्रह्म निरुपाधिक चैतन्य और इस प्रकार व्यक्त्युपाधि से रहित है। किन्तु इस सबके बावजूद दार्शनिक प्राय: आत्मचेतना को अहं-बोध और अहं को वैयक्तिक और व्यक्ति को दैहिक मानकर ही चलते हैं। यहां पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा, जिनमें कांट भी सम्मिलित हैं, 'आब्जेक्टिव' को 'इंटर्सब्जेक्टिव' रूप में परिभाषित करना इसे स्पष्टतम रूप में निदर्शित करता है। इधर मुकुंद जी ने कर्म पर विचार करते हुए आत्मचेतना को व्यक्ति से ऊपर देखने में असमर्थता दिखायी है। हमने इस प्रश्न पर अन्यत्र दो प्रसंगों में विचार कर इस दृष्टि को अस्वीकार किया है।[७]

---

७. संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या, अध्याय २ 'संस्कृति का अधिष्ठान' समाज : दार्शनिक परिशीलन, अध्याय १, 'संस्कृति और समाज : अधिष्ठान की समस्या।' मूल्यतत्त्व-मीमांसा, अ. १०-११ 'आत्मान्वेषण'।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मचेतना के आत्म को वैयक्तिक मानने के पीछे यह धारणा है कि अस्मत् प्रत्यय तो अस्मदनुभूतिमूलक ही हो सकता है और अस्मदनुभूति अस्मद् विषय : अस्मत्-प्रत्यय : की विषयिता होती है। अभिनव गुप्त ने 'आत्मचेतना' शब्द के बजाय 'स्व-संवेदन' शब्द का ही प्रयोग किया है। शंकर ने भी आत्मा की विषयता की बात करते हुए वैयक्तिक आत्म-प्रत्यय की बात ही की है, जिसका अर्थ होता है कि वह स्वरूपतः तो विषयी ही होता है और वह विषयी व्यक्ति ही हो सकता है। किन्तु तब शंकर के ब्रह्म और अभिनव के शिव को भी वैयक्तिक ही होना चाहिए, क्योंकि उनका आत्मा ब्रह्म या शिव से अभिन्न है। इस पर कहा जा सकता है कि आत्मचेतनागत 'आत्मा' और आत्मा ये एक ही नहीं हैं। आत्मचेतना जबकि विषयभूत आत्म प्रत्यय की विषयिता है, आत्मा अतिक्रामी चित्तत्व है। किन्तु शंकर ऐसा मानते हैं, ऐसा मुझे नहीं लगता। वे ब्राह्म चैतन्य को ही आत्मा मानते हैं और उसी को आत्म-प्रत्यय-गोचर विषय की विषयिता कहते हैं। किन्तु इसमें कुछ व्यामिश्र है, यह स्पष्ट है। इस पर हम यहाँ आगे विचार नहीं करेंगे। यहाँ शंकर का अभिमत हमारे विचार का विषय नहीं है।

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि इसमें जिस आत्म : आत्मा : की बात मुकुन्द जी, तथा शंकर और अभिनव गुप्त भी, कर रहे हैं, वह अहंकाराधिष्ठित आत्म-प्रत्यय है, जो अतिक्रामी : कांटीय ट्रांसेंडेंटल : रूप में जैव देह और इन्द्रिय-संघात का हेतु होता है और अधिकांशतः चैत्त स्तर पर भी जैव व्यष्टिता का हेतु होता है। किन्तु इंस्टिंक्ट के रूप में यह सभी जीवों में और छत्ता, बाँबी आदि के रूप में मधुमक्खियों, दीमकों, चींटियों आदि में चैत्त स्तर पर देहेन्द्रिय-संघात का अतिक्रमण : उत्तरण : करता है। किन्तु मनुष्य में इसकी स्थिति बहुत भिन्न और विचित्र होती है। चेतना केवल मनुष्य में ही आत्म-चेतन होती है और तब इस अतिक्रामी अहंकार का आत्म-प्रत्यय रूप में विषयतया प्रत्यक्ष करती है। किन्तु यह विषय एक साथ आहंकारिक और अत्याहंकारिक : सामान्य : होता है—इस चेतना के सभी विषय या तो सामान्य ही होते हैं या सामान्याधिष्ठित विशेष : विशेषगत सामान्य : होते हैं—लिखे या बोले गए 'घट' शब्द के समान। 'घट' शब्द बोले, लिखे या विचारे बिना व्यक्त नहीं हो सकता और इस रूप में : अस्तित्व में : वह विशेष : व्यष्टि : ही हो सकता है, किन्तु अपनी सत्ता में वह अशेषतः सामान्य होता है। शंकर ने आत्मा को आत्म-प्रत्यय-गोचर कहते हुए इस बात को लक्षित नहीं किया है। मुकुन्द जी भी जब आत्मचेतन चेतना को निर्वैयक्तिक देखना असम्भव पा रहे हैं वह इसी व्यामिश्र के कारण कि वे 'अस्मिता-बोध' को, जिसे पाश्चात्य दार्शनिक 'एंपीरिकल सेल्फ' कहते हैं, चेतना की आत्मचेतनता समझ रहे हैं। निश्चय ही चेतना आत्म-चेतन होकर विषय रूप में जिस आत्म का प्रत्यक्ष करती है वह अतिक्रामी अहंकारारूढ़ आत्म आत्म-संवेदन ही होता है किन्तु वह साथ ही प्रत्ययदर्शी : सामान्यदर्शी : आत्मचेतन चेतना का अर्थ : विषय : भी होता है, जैसा कि हम इसे भाषा में सर्वनाम के वाच्य के रूप में देख सकते हैं। आत्मचेतन चेतना का आत्म स्वरूपतः ही सर्वनाम वाच्य होता है, जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाच्य एक साथ विशेष और सामान्य होता है—बोले गए शब्द की ही तरह। आत्मचेतन मनुष्य में आत्मा की यह सार्वनामिकता ही नैतिक बोध और सामाजिकता की हेतु बनती है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि मानव-व्यक्ति पाशव-व्यष्टि से भिन्न होता है और यह भिन्नता इसी बात में होती है कि वह अहंकारमूलक नहीं होकर अहंकारदर्शी : अहंकार का साक्षी : होता है। जहाँ तक वह ऐसा नहीं होता वहाँ तक वह 'व्यक्ति' नहीं होकर 'व्यष्टि' होता है, और व्यक्ति वह सार्वभौमिकता की पर्यन्तता तक हो सकता है। भौतिक ब्रह्माण्ड की भाषा रचने वाले आईंस्टाइन की चेतना व्यष्टि के अर्थ में वैयक्तिक नहीं थी, उससे अधिक गांधी की चेतना, जिसके लिए भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम अहंकार को अशेषत: अहिंसा में निश्शेष कर देने की साधना था, और उससे अधिक बुद्ध की चेतना, जो व्यष्टि जीवों पर दया से आगे 'जीव की अविद्या' के प्रति करुणा-प्लावित थी, किसी भी अर्थ में व्यष्टिमूलक या व्यक्तिगत, नहीं थी, यद्यपि 'आईंस्टाईन', 'गांधी' और 'बुद्ध' व्यक्ति-वाचक संज्ञाएँ ही हैं। निश्चय ही इन तीनों की चेतना संवेदन के रूप में व्यष्टि-देहाश्रित ही थी—संवेद रूप में चेतना को व्यष्टि-देहाश्रित ही होना होता है, जैसे बोले जाने के लिए 'घट' शब्द को और जल धारण के लिए घटत्व को व्यष्टि रूप में घटित होना होता है। यों जैव जगत् में भी छत्ता और बाँबी व्यष्टि-मधुमक्खियों और चींटियों के माध्यम से ही अस्तित्व-लाभ करते हैं, इंस्टिक्ट व्यष्टि-जीवों के माध्यम से ही व्यक्त होती है, किन्तु इनकी सत्ता व्यष्टिपरक नहीं होती। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मचेतन चेतना स्वरूपत: निर्वैक्तिक और सामन्य होती है किन्तु अपनी अभिव्यक्ति, या कहें अस्तित्व के लिए उसे अनिवार्यत: व्यष्टि को माध्यम बनाना होता है।

हमारे पिछले विवेचन से यह स्पष्ट है कि चेतना आत्मचेतन होकर एक सर्वथा नयी और भिन्न लोक-यात्रा आरम्भ करती है—आत्मा की खोज की यात्रा, आत्मगवेषणा की यात्रा, पूर्ण परात्म भाव से आरंभ कर अपर आत्मा की उपलब्धि की ऐतिहासिक यात्रा, पूर्ण तमसा-वृति से विवृति की क्रमिक सिद्धि की यात्रा। यह सही है, किन्तु इसमें एक स्पष्ट विच्छेद और उत्क्रमण है। अब चेतना अशेष पराङ्मुखता से प्रत्यङ्मुख होती है और अपनी अधिष्ठातृ होती है, अब वह विषय-परवश से अर्थों की सर्जक होती है। किन्तु इसकी यात्रा का यह दूसरा अध्याय पहले अध्याय से कम दुरूह और कम कष्टकर नहीं होता, कह सकते हैं शतधा अधिक कष्टकर हो जाता है। अब इसकी क्रियाओं की प्रवर्त्तकता का अधिष्ठातृत्व इसके अपने अधीन होने से इसकी उत्तरदायी वह स्वयं हो जाती है। इस उत्तरदायित्व का अर्थ होता है क्रियाओं : कर्मों : को सम्यक् बनाना, युक्त बनाना। किन्तु कर्मों की सम्यक्ता का आधार क्या है? प्रमाण क्या है? यह प्रमाण ऐसे बाहर कहीं से उपलब्ध नहीं होता जैसे उसे अपने पाशव अध्याय में उपलब्ध रहता था। यह प्रमाण आत्मा स्वयं ही होता है। पाशव अध्याय में भी वही था, किन्तु तब आत्मा का रूप ऐन्द्रिक-वासनात्मक था। इसके आगे उसे आत्मा का अर्थ पता नहीं था। यों अब भी सहज रूप में आत्मा कुछ इसी रूप में उपलब्ध होता है, किन्तु अब वह इस अर्थ में अपरोक्षत:

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपलब्ध नहीं होता। पीछे[८] हमने बृहदारण्यक उपनिषद् का मन्त्र उद्धृत किया था—न हि पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति... आदि। यहाँ स्पष्टतः पति में आत्म-भाव के होने किन्तु उस होने की अयुक्तता का बोध है। आत्मचेतन चेतना अपनी यात्रा के प्रथम चरण में ही इस बोध से, या कम से कम आदिम बोध की युक्तता में संदेह से ग्रस्त हो जाती है। आत्मा के इस नये स्वरूप का आभास उसमें सांस्कृतिक आधार-प्रतीक का रूप लेता है जिसका स्वरूप उसे खोजना होता है। किन्तु यह खोज अपने आप में भी अगाध, अपार, और सबसे बढ़कर पूर्णतः भ्रान्त होने की संभावना से ग्रस्त, होती है। इसके अतिरिक्त होता है मनुष्य का पाशव इतिहास, जिससे वह अपनी देह, इन्द्रियों और संस्कारों के द्वारा जुड़ा रहता है। यह इतिहास उसे वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर अपने आत्म-बोध के विपरीत जाने को विवश करता है, उसके बोध को धूमिल भी करता है, और बहुत बार उसे पूर्णतः विभ्रान्त रखता है। मनुष्य ने सामाजिक रूप से जैसे अन्यायों, अत्याचारों, युद्धों, आनुष्ठानिक रूढ़ियों आदि का, उन्हें सत्य मानकर, अनुसरण किया है, जैसे अर्थ और काम के निर्बन्ध अनुसरण को ऐश्वर्य का नाम दिया है, वह सब ऐसी ही विभ्रान्तियों का द्योतक कहा जा सकता है। किन्तु 'बुद्ध की शरण', 'आत्मा की ब्रह्म रूप में खोज', 'अहिंसा की पराकाष्ठा में साँस लेने तक में जीव-हत्या का दर्शन' आदि भी किस प्रकार मनुष्य के लिए अन्ततः विभ्रमकारी सिद्ध होते रहे हैं, यह सर्वविदित है। यह परिस्थिति चेतना के लिए अनिवार्य है। क्योंकि आत्मा, जो कि उसका अन्वेष्य है, उसका स्वरूप इस अन्वेषण की प्रक्रिया में ही बनता है, वह इससे पृथक् और पूर्व नहीं होता—न औपनिषद ब्रह्म के समान, न श्री अरविन्द के ब्रह्म के समान, और न वैज्ञानिक उपकरण-साध्य निर्बाध सुख के समान। किन्तु इसमें स्वरूप और पर-रूप के भेद का बोध इस प्रक्रिया का ही अंग होता है, और वह बोध भ्रान्त या निर्भ्रान्त, प्रामाणिक या अप्रामाणिक रहता है। इनमें कौन सा बोध भ्रान्त और कौन निर्भ्रान्त है, इसके लिए यह अनिश्चय प्रायः ही बना रहता है, किन्तु अधिकांशतः निश्चय होने पर भी वह उसके अनुसरण में अपने को असमर्थ पाता है और अपनी इस असमर्थता से समझौता करता है। किन्तु यह प्रमाण चेतना के अपने भीतर ही निहित रहता है, जैसे मानो अपने भीतर पड़ा 'कुछ', जिसे हम डुबकी लगाकर : 'निदिध्यासन द्वारा :खोज पा सकते हैं। किन्तु डुबकी जिसमें लगानी होती है वह चेतना के अनादि इतिहास का तमस होता है, जिसे हटाना होता है–वासनाएं, संस्कार, उद्वेग। इस तमस को हटाकर जो पाना होता है वह पूर्वसिद्ध नहीं होकर अपने मूल में ही अपूर्व और साध्य होता है–आत्मसर्जनात्मक।

---

८. उन्मीलन, जनवरी, २००७ में 'चित् की आत्म-गवेषणा' लेख।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लक्षण और उसकी विधायें

नारायण शास्त्री द्राविड़

'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' यह न्यायसूत्रभाष्यकार वात्स्यायन की उक्ति सुप्रसिद्ध है। इस उक्ति के अनुसार प्रत्येक पदार्थ की सत्यता उसके लक्षण तथा उसके अस्तित्वसाधक प्रमाण से निर्धारित होती है। इन दोनों की वस्तु या पदार्थ की सत्यता-सिद्धि के लिए आवश्यकता इसलिये होती है कि सत्यता-घटक सत्ता का निर्धारण लक्षण से ही होता है, जबकि सत्यता के दूसरे घटक अस्तित्व का निर्धारण प्रमाण से होता है। सत्ता और अस्तित्व सामान्यतः अभिन्न समझे जाते हैं, किन्तु वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, यह अधिकांश भारतीय दर्शनों की, विशेषतया न्यायवैशेषिक दर्शन की, धारणा है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि न्यायवैशेषिक दर्शन- पुरस्कृत सत्ता रूप जाति-विशेष से भिन्न तथा प्रत्येक पदार्थ के सत्-स्वरूप की व्यंजक जाति या धर्म की ही सत्ता के रूप में हम बात कर रहे हैं। सब प्रकार के पदार्थ सत् होते हैं अतः उन में सत्ता होती है। जैसे मनुष्य सत् होने से उसमें सत्ता के रूप में मनुष्यत्व रूप जाति विद्यमान होती है, ऐसे ही पशु में पशुत्व, घट में घटत्व सत्ता के रूप में विद्यमान होते हैं। अतः इस सत्ता को कोई अतिरिक्त पदार्थ समझने की आवश्यकता नहीं है। अस्तित्व सत्ता से भिन्न है और वह पदार्थों के स्थल-काल-संबंध से निर्धारित होता है। प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों से पदार्थों के स्थल-काल संबंध का निर्धारण किया जाता है। यदि 'कोई पदार्थ सत् है' यह बात प्रमाणित करनी हो तो वह किस स्थल-काल में है या हो सकती है, यह जानना आवश्यक है। इसी प्रकार, कोई पदार्थ है यह जान लेने पर भी उसका स्वरूप क्या है, यह जाने बिना उसका यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों की आकृति को जानना सम्भव है। लेकिन आकृतिमात्र को जानना आकृतियुक्त पदार्थ को यथावत् जानना नहीं हो सकता। जैसे किसी गाय को देखकर उसकी आकृति को जान-पहचान लेने के बाद गाय जैसी ही दिखाई पड़ने वाली याक को भी कोई अनजान आदमी एक प्रकार की गाय ही समझ बैठे तो आश्चर्य की बात नहीं। वैसे सभी गायों की भी बिलकुल एक जैसी ही आकृति नहीं होती। उनकी आकृतियों में कम-अधिक भिन्नता होती ही है। इन अंशतः भिन्न आकृतियों में से एक सर्वगोसाधारण सामान्य आकृति को परखना सरल बात नहीं है। इस सामान्य आकृति को याक की दृश्य आकृति से अलगाना तो बहुत कठिन बात है।

यह बात ज़रूर है कि दृश्य पदार्थ की आकृति को देखने पर उसकी पहचान प्रायः हो जाती है। लेकिन इस कारण आकृति को पदार्थ का वास्तविक स्वरूप नहीं माना जा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता। कुछ दशक पूर्व ऐसा माना जाता था कि व्हेल एक अति विशालकाय मछली ही है, क्योंकि उसकी आकृति मछली की आकृति जैसी ही होती है। लेकिन कुछ समय के बाद प्राणिशास्त्रज्ञों को व्हेल के शरीर की चीर-फाड़ करने के बाद पता चला कि व्हेल एक स्तनपायी जानवर है, मछली नहीं। प्रत्येक पदार्थ का वास्तविक स्वरूप उसकी आकृति से पूर्णतया निर्धारित नहीं होता। उसके आकृति-भिन्न स्वरूप को निर्धारित करने के लिए उसका अन्यूनानतिरिक्त ऐसा लक्षण, जो अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति इन दोषों से रहित हो, जानना आवश्यक होता है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या व्यक्ति विशेष को ठीक तरह पहचानने के लिए उसके लक्षण की ज़रूरत होगी? इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक ही होगा। एक उदाहरण लें—किसी बालक को अच्छी तरह जान-पहचान लेने के बाद भी उसी बालक को उसकी प्रौढ़ावस्था में देखने पर उसे आसानी से पहचानना सम्भव नहीं होता। ऐसे अनेक उदाहरण व्यक्ति विशेष के संबंध में दिये जा सकते हैं। इन पर से यह निष्कर्ष निर्विवाद रूप से प्राप्त होता है कि पदार्थ एक ही हो या एकजातीय अनेक, उनके स्वरूप को, उसे लक्षित किये बिना ठीक तरह नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार यदि इन्द्रियगोचर पदार्थों के स्वरूप-निर्धारणार्थ उनके लक्षण की आवश्यकता अनिवार्य हो तो इन्द्रियागोचर तथा मनोमात्र गोचर जो ज्ञानमीमांसीय या तार्किक संप्रत्यय हैं उनको जानने-समझने के लिए उनको यथावत् लक्षित करने की आवश्यकता कदापि अस्वीकार नहीं की जा सकती। न्यायदर्शन की एक शाखा, जो नव्यन्याय के नाम से प्रसिद्ध है, प्रमाणमीमांसांतर्गत ज्ञानमीमांसीय तथा तार्किक-संप्रत्ययों को नपेतुले ढंग से परिभाषित करने के लिये ही निर्मित और विकसित की गयी। यह निर्मिति आज से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व मिथिला निवासी महातार्किक गंगेशोपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि नामक चतुष्खंडात्मक ग्रंथ के द्वारा की। इस ग्रंथ की अनेक व्याख्यायें तथा उपव्याख्यायें हैं। इनमें सत्रहवीं सदी के तार्किकमूर्धन्य रघुनाथ शिरोमणी की दीधिति नामक व्याख्या और उसकी जगदीश भट्टाचार्य तथा गदाधर भट्टाचार्य इन महापंडितों द्वारा लिखित विशाल उपव्याख्यायें नव्यन्याय के अभूतपूर्व विकास तथा विस्तार के लिए सहायक हुई हैं। इस संदर्भ में यह बात विशेषतया ध्यान देने योग्य है कि न्याय-वैशेषिक तथा तदंतर्गत नव्यन्याय ने ही पदार्थों तथा तत्संबंधी संप्रत्ययों के यथावत् लक्षणों के निर्माण का अथक प्रयास किया है। मीमांसादि अन्य दर्शनों ने पदार्थों या संप्रत्ययों को लक्षित करने का विशेष प्रयास किया दिखाई नहीं देता। इसी कारण न्यायवैशेषक दर्शनकारों के लिए 'लक्षणैकचक्षुक' अर्थात् पदार्थों तथा संप्रत्ययों के लक्षणों पर ही ध्यान केन्द्रित करने वाले, ऐसा विशेषण और अन्य दर्शनकारों के लिए 'लक्ष्यैकचक्षुक' याने 'लक्ष्यभूत पदार्थों एवं संप्रत्ययों पर ही ध्यान केन्द्रित करने वाले' ऐसा विशेषण भारतीय दार्शनिक परंपरा में प्रयोग में लाये गये हैं।

इन दार्शनिक दृष्टियों के भेद का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। न्यायवैशेषिक एक पदार्थगत परस्पर भेदवादी दर्शन है जबकि अन्य दर्शन भेद के साथ अभेद का भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुरस्कार करते हैं। एक उदाहरण लें–मनुष्य एक पदार्थ है। मनुष्यगत मनुष्यत्व एक दूसरा जातिरूप पदार्थ है। इन दोनों में इस दर्शन के मतानुसार ऐक्य बिलकुल नहीं है। तथापि ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं। मनुष्य मनुष्यत्व के बिना और मनुष्यत्व मनुष्य के बिना नहीं रह सकते। इन दोनों में एक विशेष प्रकार का संबंध माना जाता है जिसे 'समवाय संबंध' कहा जाता है। पूर्णतया एक-दूसरे से भिन्न पदार्थों में भी समवाय के समान घनिष्ठ संबंध हो सकते हैं ऐसा न्याय वैशेषिक दर्शन मानता है। यह सम्बन्ध घनिष्ठ होते हुए भी संबंधिबाह्य ही होता है, ऐसा इस दर्शन का मत है। मीमांसा दर्शन जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी पदार्थों को परस्पर भिन्न मानते हुए भी उन्हें केवल भिन्न नहीं मानता। ये परस्पर भिन्न तथा परस्पराभिन्न भी हैं, ऐसा इस दर्शन का अभिमत है। भेद और अभेद इन दोनों को परस्पर सहकृत मानने में मीमांसा को कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती। अद्वैत वेदान्त अपनी 'अद्वैत' संज्ञा के अनुरूप जाति, गुण तथा इनके आधारभूत द्रव्यादि पदार्थों में द्वैत या भेद को अस्वीकार कर द्रव्य की सत्ता के अतिरिक्त जाति, गुण आदि की सत्ता को नाम-रूपात्मक और इस प्रकार असत् ही समझता है। ये सभी दर्शन अपनी-अपनी भेदवादी, अभेदवादी या भेदाभेदवादी भूमिका के समर्थनार्थ किसी न किसी लोक-साधारण अनुभव को अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि उक्त स्पष्टीकरण के अनुसार पदार्थों या संप्रत्ययों के स्वरूप को उनके लक्षणों के द्वारा व्यक्त न किया जाय जिससे इनको ठीक तरह जानना-पहचानना संभव नहीं तो भेदाभेदवादी, अभेदवादी तथा अद्वैतवादी दर्शन यह जानना-पहचानना कैसे संभव मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अद्वैत वेदान्त के 'स्वयंप्रकाशता' सिद्धान्त की मदद से और एक अन्य तरीके से भी दिया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म, अर्थात् परमसत्य, स्वयंप्रकाश, अर्थात् अपनी सत्ता को स्वयं लक्षणादि की सहायता के बिना प्रकाशित करता है। परमसत्य पर आरोपित विश्व की सभी मिथ्या वस्तुएं भी परम सत्य की सत्ता को ही अपनी आभासमय सत्ता के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे अंधकार से प्रच्छन्न वस्तुएं सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर ही अपना अस्तित्व प्रकट करती हैं वैसे ही परम सत्य की सत्यता ही मिथ्या व्यावहारिक पदार्थों की सत्यता की आभासात्मकता को प्रकट करती है।

ब्रह्म और व्यावहारिक जगत् के द्वैत के समान ही जगत् की अनेकानेक वस्तुएं और उनके नामरूपात्मक गुण-जात्यादि भी भिन्न हैं। जैसे स्वयंप्रकाश सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म-रूप परम सत्य की सत्ता ही जगत् की दृश्य सत्ता के रूप में प्रकट होती है वैसे ही सब पदार्थों की सत्ता ही उनके नामरूपात्मक गुणजात्यादि की सापेक्ष सत्ता के रूप में प्रकट हुआ करती है। अत: इन पदार्थों के स्वरूपों को उनके लक्षणों से परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं होती। अपने अपने गुण-जात्यादि की तुलना में ये पदार्थ भी स्वयंप्रकाश और सापेक्षतया परमसत्य समझे जा सकते हैं। ब्रह्म और जगत् का द्वैत ही सर्वविध जागतिक पदार्थों और उनके विभिन्न गुण-धर्मों को भी अभिभूत किये रहता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभेदवादी दार्शन के लिए लक्षण की आवश्यकता बिलकुल नहीं होगी। यदि कोई पदार्थ और उसके गुणधर्म, जिनके द्वारा वह परिभाष्य माना जाता है, दोनों परस्पर अभिन्न ही हों तो तथाकथित लक्ष्य और लक्षण एक हो जाते हैं। अत: पदार्थ के स्वरूप को समझने के लिए पदार्थ से भिन्न किन्तु उसमें समन्वित होने वाले किसी लक्षण की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

भेदाभेदवादी मीमांसा दर्शन के अनुसार पदार्थ और उनके गुणधर्म एक-दूसरे से भिन्न हैं और अभिन्न भी। कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप में अपने गुणधर्मों से भिन्न है और गुणधर्मादि युक्त रूप में उनसे अभिन्न भी है। इस रूप में किसी भी पदार्थ को लक्षण की आवश्यकता नहीं होगी। चूंकि गुणधर्मादि स्वाश्रयभूत पदार्थ से भिन्न होते हुए अभिन्न भी हैं अत: उनको पदार्थ से अलग मानते हुए उनके द्वारा पदार्थ को लक्षित करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। पदार्थ अपने स्वरूप को या स्वरूप-लक्षण को स्वयं ही प्रकट कर देता है। इस कथन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि मीमांसा में किसी भी पदार्थ को उसके लक्षण के द्वारा लक्षित नहीं किया गया या पदार्थों का लक्षण प्रस्तुत करना असंगत माना गया है। ऐसी बात नहीं है। लेकिन न्याय- वैशेषिक के समान वस्तुसिद्धि के लिये वस्तु-स्वरूप के लक्षण की अनिवार्य आवश्यकता मीमांसा स्वीकार नहीं करती। यदि किसी पदार्थ का स्वरूप आंतरिक जटिलता से पूर्ण हो तो उसके आंतरिक स्वरूप को प्रकाश में लाने के लिये उस पदार्थ का लक्षण जानना आवश्यक होगा। यह बात मीमांसा को स्वीकार्य है। मीमांसा-मत में जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप इंद्रिय, उनके विषय, इनका परस्पर सन्निकर्ष और इनके साथ मन का संयोग इन विभिन्न घटकों के विशेष प्रकार के समायोजन से संरचित है किन्तु ज्ञान के प्रत्यक्ष रूप में अतीन्द्रिय भी है, अत: उसका यथावत् लक्षण जानना नितांत आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्त्ति मीमांसादर्शनकार जैमिनी ने स्वयं कर दी है। लक्षण-प्रणयन के प्रति मीमांसा की सामान्य उदासीनता का उक्त कारण मीमांसक ग्रंथकारों ने नहीं प्रतिपादित किया है, न उन्होंने एतत्संबंधी कोई प्रश्न ही उठाया है, लेकिन न्याय की तुलना में मीमांसा लक्षणों की चर्चा के प्रति घोर उदासीनता प्रदर्शित करती है, यह जानने पर इस बात का स्पष्टीकरण उक्त तरीके से ही दिया जा सकता है।

अब लक्षण-प्रक्रिया के संबंध में उठने वाली एक गंभीर समस्या पर किंचित् विचार करना होगा। लक्षण लक्ष्य से भिन्न होकर ही लक्ष्य को लक्षित करता है, यह न्यायसंगत बात मानने में यह समस्या उपस्थित होती है कि जो लक्षणभूत गुण या धर्म लक्ष्य को लक्षित करने वाला माना जाएगा वह उससे बिलकुल भिन्न कैसे होगा? जैसे गाय का लक्षण उसकी ग्रीवा से संबद्ध सास्ना मानी जाती है। यह सास्ना अन्य चतुष्पाद प्राणियों में नहीं पायी जाती। लेकिन सास्ना गाय के शरीर का एक छोटा सा अंग मात्र है और वह गो व्यक्तियों से भिन्न है। यदि मीमांसा के अनुसार लक्ष्य और लक्षण अभिन्न होने से लक्ष्य को जानने के लिए लक्षण की आवश्यकता नहीं हो तो उक्त आशंका के अनुसार लक्षण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लक्ष्य से भिन्न होने से वह उसे लक्षित ही नहीं कर पायेगा। जैसे जल का लक्षण जलना नहीं होता वैसे ही गाय का लक्षण सास्ना नहीं होगी। इस समस्या को कार्य-कारण संबंध के बारे में भी उठाया जा सकता है और उठाया भी गया है। कार्य और कारण, जैसे वृक्ष और उसका बीज, यदि एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं तो बीज वृक्ष का कारण कैसे हो सकता है? यदि अत्यन्त भिन्न बीज और वृक्ष जैसे पदार्थों के बीच कार्य-कारण संबंध (जो अनिवार्य है) हो तो बीज और अन्य किसी भी वस्तु के बीच कार्यकारण संबंध हो सकता है। लक्षणविषयक उक्त समस्या का समाधान यही होगा कि लक्ष्य से भिन्न होते हुए भी लक्ष्यगत धर्मविशेष को हम उसका लक्षण मान लें। भिन्न पदार्थों के बीच भी समवाय जैसे अनिवार्य संबंध हो सकते हैं और इनमें से एक दूसरे का लक्षक हो सकता है, यह सामान्यानुभव प्रमाणित बात है जिसे भिन्नता के प्रत्यय पर आधारित कोई तर्क झुठला नहीं सकता। यही नहीं, इस तर्क के विरोध में यह भी कहा जा सकता है कि जो दो पदार्थ एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न होते हैं उन्हीं के बीच कोई सम्बन्ध बाह्य या आंतरिक हो सकता है।

इस विषयांतर के बाद अब लक्षण की विधाओं पर विचार करें। पहली विधा स्वरूपलक्षण की है। प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वरूप ही, यदि उसका अन्यविध लक्षण संभव न हो तो, उसका लक्षण मानना पड़ता है। जैसे जल का लक्षण 'उद्जन के दो अणु और ओषजन के एक अणु के रासायनिक संयोग से उत्पन्न द्रव्य' यह मानने पर उद्जन और ओषजन के लक्षण पूछे जायें तो ये दो अलग-अलग प्रकार के वायु हैं, ऐसा उत्तर देना होगा। उसके बाद यदि पुनः पूछा जाय कि 'वायु' कैसा पदार्थ है? तो उस प्रश्न का उत्तर वायु के स्वरूप को–जो स्पर्शनेन्द्रियमात्रगम्य है–बता कर ही दिया जा सकता है। ऐसी ही बात ज्ञानमीमांसीय या तार्किक संप्रत्ययों के लक्षण या परिष्कार की प्रक्रिया में दृगोचर होती है। किसी व्यामिश्र संप्रत्यय, जैसे व्याप्ति, का लक्षण जिन अवांतर संप्रत्ययों के समायोजन से किया जाता है उनका और उनके घटक प्रत्ययों का एक के बाद एक लक्षण किये जाएं तो अन्त में ऐसे संप्रत्ययों पर पहुँच कर रुक जाना होगा जिनका कोई विश्लेषण संभव नहीं। ऐसे संप्रत्ययों का स्वरूपलक्षण ही संभव माना जा सकता है।

पदार्थों के स्वरूप के संबंध में न्यायमत आपाततः सही लगने पर भी विचार करने पर कुछ अटपटा प्रतीत होता है। जैसे मनुष्य का स्वरूप मनुष्यत्व, रूप, जाति या धर्म है ऐसा नैयायिक मानते हैं। इस पर बौद्धों का आक्षेप है कि मनुष्य तो जन्म-मरणशाली प्राणी है लेकिन मनुष्यत्व नित्य पदार्थ है और वह मनुष्यों से सब बातों में भिन्न है। मनुष्य मात्र नष्ट हो जाने पर भी मनुष्यत्व विद्यमान होता है ऐसा न्याय मत है। लेकिन यह कैसे सम्भव है कि एक अनित्य पदार्थ का स्वरूप उससे अत्यन्त भिन्न नित्य पदार्थ हो? इसी प्रकार यह भी कैसे संभव है कि कोई मनुष्य पैदा होते ही इस नित्य पूर्वसिद्ध मनुष्यत्व जाति से जुड़ जाय? यही नहीं, मनुष्यत्व से भिन्न मनुष्य क्या है यह समझना भी उक्त मतानुसार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कठिन हो जाता है। इन आशंकाओं का एक समाधान यह हो सकता है कि मनुष्यत्व किसी एक ही मनुष्य का स्वरूप न होकर समग्र मानवसमाज का स्वरूप है। ऐसा होने के कारण ही वह प्रत्येक मनुष्य का स्वरूप है और एक-एक मनुष्य मरणशील होने पर भी मानवसमाज ऐसा नहीं है। अत: मनुष्यत्व भी मरणशील न होकर नित्य है। इस समाधान पर यह आपत्ति हो सकती है कि किसी भयंकर प्राकृतिक विपदा के कारण सारा मनुष्यसमाज ही नष्ट हो जाय तो मनुष्यत्व जाति किसी का भी स्वरूप बनकर अपनी सत्ता नहीं बनाये रख सकेगी। नैयायिकों का इस प्रश्न का उत्तर अतीव असंतोषजनक है। वे कहते हैं कि अपने आश्रयभूत पदार्थों के पूर्ण विनाश के बाद उन पर आश्रित जाति या तो निराश्रित ही विद्यमान रहती है या नित्य महाकाल में विद्यमान रहती है। ये दोनों विकल्प स्वीकारार्ह नहीं हैं। जाति की सत्ता उसके आश्रयभूत पदार्थों के स्वरूप के रूप में ही स्वीकार की जाती है। यदि ये पदार्थ ही न हों तो किसका स्वरूप इनकी जाति प्रकट करेगी? शायद इसी कारण से मीमांसक पदार्थ की आकृति को ही उसकी जाति मानते हैं। यह आकृति एक-जैसे पदार्थों में एक ही होती है और इनमें से किसी के उत्पन्न या नष्ट होने से आकृति की सत्ता में कोई बाधा नहीं आती। लेकिन इस उत्तर में भी उक्त कठिनाई विद्यमान है। यदि आकृति नित्य है तो आकृतियुक्त सभी पदार्थ नष्ट हो जाने पर भी उसका अस्तित्व रहना चाहिए, किन्तु जाति के अस्तित्व के समान ही आकृति के अस्तित्व की भी व्यक्तियों के अस्तित्व के अभाव में कल्पना नहीं की जा सकती।

स्वरूपलक्षण के विचार के बाद अब उस लक्षणविधा का विचार करें जिसके लिए 'तटस्थलक्षण' इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। इस लक्षण को 'तटस्थ' इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह वस्तुस्वरूप से अलग होते हुए भी उसे यथावत् लक्षित करता है। इस प्रकार के लक्षणों की ही न्यायवैशेषिक दर्शन तथा नव्यन्याय में अधिकतर चर्चा की गयी है। स्वरूपलक्षण सब प्रकार के पदार्थों, संप्रत्ययों आदि को लक्षित नहीं कर पाता इसीलिये तटस्थ लक्षण की आवश्यकता होती है। स्वरूपलक्षण की धारणा के मूल में यह विचार (प्राय:) हुआ करता है कि स्वरूप से लक्षणीय पदार्थ निसर्गत: ही अन्य पदार्थों से भिन्न होते हुए इस भिन्नता को अपने स्वरूप के द्वारा ही प्रकट करते हैं। एक प्रकार से इन्हें 'स्वयं प्रकाश' कहा जा सकता है। इनके लिए 'नैसर्गिक प्रजातियां' यह अर्धवैज्ञानिक शब्द प्रयुक्त हो सकता है। जैसे 'स्तनपायी और अस्तनपायी' प्राणियों की प्रजातियों का भेद नैसर्गिक है। पशु, पक्षी, कीड़े-मकौड़े, मनुष्य, वनस्पति इन सजीव शरीरधारियों का भेद भी नैसर्गिक है। इनमें से हरेक प्रजाति के अंतर्गत उपप्रजाति (यह शब्द वैज्ञानिक नहीं है, मोटे तौर पर यहां प्रयोग में लाया गया है) भेद हुआ करते हैं जो प्रजाति-भेद के ही समान नैसर्गिक और स्वयंप्रकाश होते हैं। जैसे पशु-प्रजाति के अंतर्गत हाथी, गाय, घोड़ा इत्यादि विभिन्न और विभिन्न रूप से स्वयं पहचानी जा सकने वाली उप प्रजातियां होती हैं। प्रजातियों और उनमें अंतर्भूत विभिन्न स्तरों की उपप्रजातियों को जानने के लिए उनके दृश्य स्वरूप के अतिरिक्त किसी लक्षण की अपेक्षा नहीं होती। यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बात अलग है कि वैज्ञानिक लोग इन प्रजातियों के नपे-तुले स्वरूप-निर्धारण के लिए इनकी शारीरिक या अन्यविध नैसर्गिक रचना को इनके स्वरूपलक्षण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। आपातत: विभिन्न प्रतीत होने वाले पदार्थों का भी वास्तविक स्वरूप प्राय: एक जैसा ही होता है। जैसे तेल, घी, लाख, मक्खन ये पदार्थ एक दूसरे से गुणधर्मों में बिल्कुल भिन्न होते हैं, किन्तु ये सब पार्थिव पदार्थ हुआ करते हैं। इनकी पार्थिवता इनको देखने-सूंघने मात्र से ज्ञात नहीं होती। इनके सामान्य गुण या गुणों के परीक्षण से ही पता चलता है कि ये सब पार्थिव हैं। ये सामान्य गुण ही इनका स्वरूप होते हैं। यदि पार्थिवता इन पदार्थों में दिखायी नहीं देती तो इनका द्रव्यत्व रूप स्वरूप कैसे दिखायी दे सकता है? नैयायिक इन पदार्थों की द्रव्यात्मकता को अनुमान से सिद्ध करते हैं। उनके मतानुसार, किसी न किसी गुण या गुणों का समवायी कारण होना उनके द्रव्यत्व का लक्षण है। द्रव्यत्व द्रव्य-सामान्यगत एक जाति है यह बात गुण की समवायि-कारणता के निर्धारणार्थ स्वीकार करनी पड़ती है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। कोई भी पदार्थ द्रव्य होकर ही गुण या गुणों का समवायी कारण हो सकता है। पार्थिव पदार्थों के समान जलीय, तैजस, वायवीय पदार्थ तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये भी पदार्थ न्यायमतानुसार द्रव्य ही हैं। इनके प्रत्यक्ष मात्र से (आकारादि को छोड़कर) इनके द्रव्यत्व का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। इनके गुणों का विचार किया जाय तो इनके जो सामान्य गुण—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये गिनाये गये हैं। इनके आधार पर भी इनके द्रव्य-स्वरूप की पहचान नहीं हो सकती। इनके विशेष गुण गंध, रस, स्पर्श, शब्द, सांसिद्धिक द्रवत्व आदि–तो इनको एक दूसरे से अलगाते हैं, इनके सामान्य धर्म को वे नहीं सूचित करते। अत: केवल गुणाश्रयता के आधार पर ही इन सब पदार्थों को द्रव्य ठहराया जा सकता है और ऐसा ही वैशेषिक दर्शन में किया गया है। इस कारण गुणाश्रयता इन सब पदार्थों का तटस्थ लक्षण माना गया है। ये ही पदार्थ अन्य दर्शनों में अन्य तटस्थ लक्षणों से लक्षित किये जा सकते हैं और किये भी गये हैं। यह आवश्यक नहीं कि गुणाश्रय के रूप में ही ये पदार्थ पहचाने जाँय। अन्यान्य दृष्टिकोणों से भी इन और इनसे भिन्न शेष पदार्थों को पहचाना या समझा जा सकता है जिससे इनके तटस्थ लक्षण दृष्टिकोण के भेद के अनुसार बदलते रहेंगे। जैसे, भौतिक विज्ञान के दृष्टिकोण को अपनाया जाय तो पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय पदार्थ उद्जन, ओषजन, नत्रजन, कार्बन, लोह, स्वर्ण आदि मूलतत्त्वों के विभिन्न संघातों के रूप में ही पहचाने जा सकते हैं। इन संघातों का तटस्थ लक्षण उनके घटक मूल तत्त्वों के विभिन्न अणुओं के नाना प्रकार के सन्निवेशों के रूप में ही जाना जा सकता है। किन्तु जनसाधारण के अनुभव में ये पदार्थ उनके अनुभाव्य विशेष गुणों–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि–के समवायिकारण रज के रूप में ही पहचाने जाने योग्य होते हैं। जैसे जल उद्जन और ओषजन के विभिन्न प्रकार के अणुओं का रासायनिक संघात भले ही हो, उसका जिह्वा तथा त्वक् से ही संवेदन रूप अनुभव प्राणिमात्र को होता है और इस अनुभव का विषय जल का अच्छा-बुरा स्वाद ही होता है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी वायु का स्पर्श नहीं। इसलिए जल का यदि सामान्यानुभविक तटस्थ लक्षण बताना हो तो वह उसके स्वाद और तरलता जैसे ऐन्द्रिय गुणों पर ही आधारित मानना होगा।

पदार्थ विषयक दार्शनिक दृष्टिकोण भी प्रत्येक दर्शन की तत्त्व-मीमांसीय भूमिका पर निर्भर होने के कारण भिन्न-भिन्न ही होते हैं। जैसे न्याय-वैशेषिक के अनुसार जल-गुणाश्रय द्रव्य मात्र है तो सांख्य-योग के अनुसार वह प्रकृतिरूप मूल कारण की एक विशेष विकृति है जिसके गुण उससे अभिन्न होते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जल एक अपञ्चीकृत महाभूत है जिसका मूल कारण माया है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत जल को परमेश्वर के स्थूल अचित् रूप गुणविशेष के रूप में ग्रहण करता है। इस प्रकार दृष्टिभेद से एक सामान्य सार्वजनीन अनुभव-विषय जल जैसा पदार्थ विभिन्न रूपों में गृहीत होता है। इस कारण उसके विभिन्न तटस्थ लक्षण प्रस्तुत किये जाते हैं। इनमें से किसी एक लक्षण को पूर्णतया वस्तु-स्वरूपग्राही लक्षण के रूप में चुना नहीं जा सकता।

दार्शनिक या तार्किक संप्रत्ययों के स्वरूपलक्षण तो असंभव हैं। इन संप्रत्ययों का व्यामिश्र जटिल रूप ही इनके स्वरूपलक्षण को यथावत् पहचानने में बाधक होता है। जैसे कार्यकारणभाव एक महत्त्वपूर्ण तत्त्वमीमांसीय संप्रत्यय है जो आपाततः इंद्रियग्राह्य प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ एक आम के पौधे को लें। इसके बीज को गीली मिट्टी में बो देने के कुछ समय बाद उसमें से पौधा निकल आता दीखता है। इसलिए बीज को पौधे का कारण मान लिया जाता है। बीज के साथ मिट्टी, पानी, धूप, हवा इत्यादि को भी कारण, मुख्य नहीं तो सहकारी, मान लिया जा सकता है। अब कुछ गहराई से देखें क्या बीज के मिट्टी में कुछ समय पड़े रहने से ही उसमें से पौधा निकलता है? नहीं। बीज मिट्टी में सड़कर नष्ट हो जाने पर, ही उसमें से पौधा बाहर निकलता है। इसका मतलब यह है कि कारण नष्ट हो जाने पर या उसमें मूलगामी परिवर्तन होने पर ही उसमें से कार्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कारण का अपने रूप में कार्य के पूर्व होना और इस रूप में कार्योत्पत्ति के क्षण में न होना कार्योत्पत्ति के लिए आवश्यक होता है। इस तथ्य के एक पक्ष को बौद्ध स्वीकार करते हैं और दूसरे पक्ष को नैयायिक अपनाते हैं। बौद्ध कारण के कार्यसमकालीन विनाश को महत्त्व देते हैं जबकि नैयायिक कारण की कार्यपूर्वकालीन अवस्थिति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। नैयायिकों के मतानुसार कारण यदि कार्योत्पत्ति-समकालीन हो तो वह एक कार्य को उत्पन्न कर उस जैसे ही अन्य कार्य को पुनः पुनः उत्पन्न करता रहेगा।

कार्य-कारणभाव जैसे सार्वजनीन संप्रत्यय की जटिलता की चर्चा ऊपर इसलिये की गयी कि जो प्रत्यय सामान्यानुभव से यथावत् ग्राह्य नहीं हैं उनके स्वरूप का आकलन उनके अन्यूनानतिरिक्त लक्षण के बिना नहीं किया जा सकता। यह बात स्पष्ट है, अनुमिति घटक हेतु साध्य की व्याप्ति एक ऐसा प्रत्यय है जो आपाततः इंद्रियग्राह्य प्रतीत होता है लेकिन जिसका वास्तविक आंतरिक स्वरूप अत्यंत जटिल है। इस स्वरूप के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्पष्टीकरणार्थ नव्य न्याय के तत्त्वचिन्तामणि, दीधिति, जागदीशी आदि ग्रंथों में सैकड़ों पृष्ठ खर्च किये गये हैं। इक्कीस भिन्न भिन्न संभाव्य लक्षणों की मंडन-खंडनात्मक चर्चा के बाद बाईसवें लक्षण को व्याप्ति के सिद्धान्तलक्षण के रूप में पुरस्कृत किया गया है।

व्याप्ति का प्रत्यय कारणता के प्रत्यय से कहीं अधिक जटिल है। उसका स्वरूपलक्षण हो ही नहीं सकता। बौद्धों ने व्याप्ति-संबंध को कार्य-कारणभावरूप मानकर उसकी जटिलता कम कर दी है। लेकिन नैयायिकों ने, खासकर नव्य-नैयायिकों ने, सब तरह के संबंधों को, यदि वे नियत हों तो, व्याप्य-व्यापक-भाव-नियामक मानकर व्याप्ति के प्रत्यय को अत्यधिक जटिल बना दिया है। इस कारण नव्यनैयायिकों का अनुमिति प्रत्यय भी अति व्यापक तथा अति जटिल हो गया है। साध्य हेतु के व्याप्त्यन्तर्गत साहचर्य या व्याप्यव्यापकभाव का नियतत्व साध्य के हेतु-साहचर्य और साध्याभाव के साथ हेतु के असाहचर्य इन दोनों पर आधारित होने से इन दोनों व्याप्ति-घटक प्रत्ययों को उनके घटक साहचर्य या सामानाधिकरण्य तथा उसके अन्यूनानतिरिक्त अभाव जैसे उपप्रत्ययों के तटस्थ या विश्लेषणात्मक लक्षण (जिसे नव्यन्याय में परिष्कार कहा जाता है) के द्वारा लक्षित करना अनिवार्य हो जाता है। पूर्णतया परिष्कृत निर्दोष व्याप्ति-लक्षण को अनेकानेक प्रत्ययों की यथावत् जुड़ी शृंखला, जिसे अनुगम कहा जाता है, के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। व्याप्ति-लक्षण के ही समान पक्षता, परामर्श, हेत्वाभास और उसकी सव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष, विरुद्ध, असिद्ध और बाध ये विधायें भी तटस्थ परिष्कृत लक्षण के द्वारा लक्षित की गयी हैं।

तटस्थ लक्षण के अनंतर अब बौद्ध प्रतिपादित स्वलक्षण पर दृष्टि डालें। स्वलक्षण यह बौद्धसंमत यथार्थवस्तु का स्वरूप है। इस शब्द का अर्थ 'स्वयं वस्तु अपना लक्षण है' ऐसा होता है। इस स्पष्टीकरण का मतलब यह है कि किसी भी वस्तु का स्व-भिन्न कोई लक्षण नहीं होता। वैसे मीमांसक भी पीछे बताये अनुसार लक्षण को लक्ष्य से भिन्न नहीं मानते। लेकिन बौद्ध मत इस मत से भिन्न है। वह यह है कि वस्तु स्वलक्षित होती है, उससे भिन्न उसका कोई लक्षण नहीं होता या हो सकता। वस्तु को देखते ही उसका ज्ञान हो जाता है। उसके किसी गुण-धर्म को इसके लिए जानने की ज़रूरत नहीं होती, क्योंकि वस्तु के गुणधर्म होते ही नहीं हैं। वस्तु स्वयं एक 'धर्म' अर्थात् निराधार, निर्धर्मक सन्मात्र होती है। इस प्रकार की वस्तु, जिसे ही बौद्ध सत् मानते हैं, सामान्यानुभवगम्य गुणधर्मादिविशिष्ट वस्तु के स्वरूप के तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण से ज्ञात होती है। वस्तुओं की सत्ता का निकष 'अर्थक्रियाकारित्व' मानने पर, जो बौद्धों का एक महत्त्वपूर्ण मत है, प्रत्येक तथाकथित वस्तु के लिए प्रतिक्षण कोई न कोई नयी क्रिया करते रहना आवश्यक होता है। एक ही अर्थक्रिया बार-बार नहीं घटित हो सकती, और यदि अर्थक्रियायें प्रतिक्षण भिन्न घटित होती रहें तो उनकी कारक वस्तु भी प्रतिक्षण उत्पन्न-विनष्ट होती रहनी चाहिये, ऐसी वस्तु में कोई आंतरिक भेद नहीं हो सकता। गुण-धर्मादिकृत बाह्य भेद भी उसमें नहीं हो सकता। ऐसी वस्तु एक क्षणभंगुर सत् ही हो सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वलक्षण वस्तु-सत् तथाकथित सजातीय तथा विजातीय वस्तु मात्र से भिन्न होता है। सामान्यानुभव विषय स्थूल वस्तु के तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण की अंतिम कड़ी के रूप में स्वलक्षण का बौद्ध दर्शन में पुरस्कार किया गया है। वस्तु-सत् की सत्ता उसके 'कारित्व' के द्वारा प्रकट होती है और यह कारित्व प्रतिक्षण भिन्न होता है और होना भी चाहिये। यदि एक के बाद एक दो क्षणों में भी कारित्व एक-जैसा ही बना रहे तो इन दो क्षणों में भी भेद कैसे होगा या जाना जायगा? दो ही क्षण कोई वस्तु एक जैसी ही बनी रहकर एक ही कार्य करती रहे तो वह तीन, चार, पांच या इससे भी कहीं अधिक क्षण, अर्थात् अपने विनाशकाल तक एक जैसी ही, बनी रह सकती है। तब उसका विनाश कैसे होगा? वस्तुओं का सामान्यत: विनाश अकस्मात् घटित होते नहीं दिखाई देता। शनैः शनैः अधिकाधिक जीर्ण होते हुए वस्तुएं नष्ट होती दिखाई देती हैं। यह जीर्ण होने की प्रक्रिया क्या है? क्या वस्तुओं की उत्पत्ति या निर्मिति के कुछ समय के बाद उनमें आंशिक रूप से जो विनाश की प्रक्रिया घटित होती दिखाई देती है वही उनके जीर्ण होने की प्रक्रिया है? यदि ऐसी वस्तुस्थिति हो जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है तो वस्तुओं का जीर्ण होता हुआ अंश ही पूर्णतया विनष्ट होगा, अन्य अंश जैसे निर्मिति या उत्पत्ति के समय थे, वैसे ही बने रहेंगे। किन्तु ऐसी बात दृग्गोचर नहीं होती। अत: यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक वस्तु-सत् में प्रतिक्षण पूर्ण या निरन्वय विनाश की प्रक्रिया घटित होती रहती है जिससे वस्तुएं क्षणभंगुर होती हैं। वस्तुओं के कोई गुण-धर्म नहीं हो सकते। ये उनसे भिन्न हों तो उनकी सत्ता को भी उनके तथाकथित आश्रयभूत वस्तु की सत्ता की तरह क्षणभंगुर मानना होगा। लेकिन दो परस्पर भिन्न वस्तुओं और उनके गुणधर्मों की क्षणभंगुर सत्ताओं का परस्पर सहावस्थान कैसे हो सकता है? अत: वस्तुसत् को पूर्णतया निर्धर्मक, स्वमात्रपर्यवसायी, क्षणिक तथा एक प्रकार से 'स्वयंप्रकाश' मानना ही तर्कसंगत होगा। अद्वैत के ब्रह्म की 'स्वयंप्रकाशता' से यह 'स्वयंप्रकाशता' भिन्न प्रकार की है। ब्रह्म ही एकमात्र सत् और चैतन्य रूप होने से स्वयंप्रकाश है। ब्रह्म की ही चित्सत्ता वस्तुमात्र में आंशिक रूप से उनकी अपनी-अपनी सीमित सत्ताओं के रूप में प्रकट होती है, ऐसा अद्वैत का अभिमत है। किन्तु बौद्ध-दर्शन का वस्तुसत् अन्य वस्तुमात्र से पूर्णतया भिन्न तथा क्षणमात्र स्थायी एवं वस्तुतत्त्व की अंतिम इकाई है जिसका अपने ही रूप में ग्रहण संवेदना के प्रारंभिक क्षण में किया जाता है। लक्षण की प्रक्रिया का वह अंतिम छोर है।

यहां यह बात विशेषतया ध्यान में रखनी चाहिये कि पीछे जिस स्वरूपलक्षण की चर्चा की गयी है उससे स्वलक्षण नितांत भिन्न है। स्वरूप शब्द का शब्दार्थ भले ही 'वस्तुस्वरूप' या 'लक्ष्यभूत वस्तु से अभिन्न' ऐसा हो लेकिन न्यायादि दर्शनों ने वस्तु से भिन्न उसके जात्यादि धर्मों को ही उसका स्वरूपलक्षण ठहराया है। स्वलक्षण स्व से भिन्न कुछ भी नहीं है, न हो सकता है। यदि प्रत्येक वस्तु-सत् सभी सजातीय तथा विजातीय माने जाने वाली वस्तुओं तथा गुणधर्मादि से नितांत भिन्न हो तो उसका उससे अन्य कोई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लक्षण कैसे हो सकता है? और ऐसे स्व-भिन्न लक्षण की आवश्यकता भी स्वलक्षण को क्या होगी?

स्वलक्षण के अनंतर 'उपलक्षण', जो लक्षण जैसा ही होता है, विचारणीय है। कुछ उदाहरण लें–'भारतवर्ष' इस नाम से सभी भारतीय नागरिक अपनी जन्मभूमि को पहचानते हैं। इस नाम का अर्थ 'भरत नामक किसी चक्रवर्ती सम्राट् ने सैकड़ों वर्ष पूर्व बसाया और सुशासित किया हुआ भू-प्रदेश' ऐसा इतिहास से हमें ज्ञात होता है। लेकिन भरत के शासन आदि के चिह्न इस भू-प्रदेश में आज किंचित् भी शेष नहीं हैं। भरत के बाद के शासकों ने जो परिवर्तन इस देश में लाये उन्हीं में से कुछ आज दिखाई दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में इस प्रदेश को 'भारत' कहकर पहचानने का क्या तुक है, ऐसा पूछा जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि भरत के भूतकालीन लेकिन आज नामशेष हुए कृतित्व को भारत निवासी लोग भुलाना नहीं चाहते। भारत शब्द का शब्दार्थ भारत देश तो आज बिलकुल लागू नहीं होता। 'भारत' शब्द एक अर्थ-रहित संज्ञा के रूप में ही भारत देश के लिए प्रयुक्त होता है जैसे राम, कृष्ण, कालिदास आदि नाम बिना किसी अर्थ के भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त होते हैं। कोई भी व्यक्ति अपना नाम, जैसा भी वह हो, बिना विशेष कारण के बदलना नहीं चाहेगा।

इस पर से उपलक्षण का एक दूसरा उदाहरण उपलब्ध होता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के उपनाम प्राय: भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे 'वाजपेयी' यह उपनाम भारत के पूर्वप्रधानमंत्री अटलबिहारी जी का है। क्या इस उपनाम के शब्दार्थ से इन महानुभाव का कोई सम्बन्ध है? सैंकड़ों वर्ष पूर्व इनके किसी पूर्वज ने वाजपेय यज्ञ बड़े धूमधाम से किया होगा जिस कारण उस व्यक्ति को तत्कालीन लोग 'वाजपेयी' कहकर प्रशंसित करने लगे। उस व्यक्ति के बाद उस के वंश के कुछ व्यक्तियों को यह उपनाम जोड़कर विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। धीरे-धीरे इस महत्त्व का विचार करना लोग भूल गये और यह उपनाम एक अर्थ-शून्य शाब्दिक संकेत के रूप में ही शेष रह गया। यह बात अलग है कि अटल जी ने अपने कृतित्व से अपने उपनाम को आज उजागर किया है। लेकिन यह उजागर करना 'वाजपेय' यज्ञ संपन्न करने के कारण न होकर भारत के समकालीन राजकीय जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन घटित करने के कारण है। अत: उपलक्षण प्राय: लक्ष्य वस्तु की पहचान के लिये एक संकेत का काम करता है, ऐसा मानना पड़ता है।

अब व्यावृत्ति रूप लक्षण का कुछ विचार कर यह लक्षण-विवेचन समाप्त करें। व्यावृत्ति का 'अन्यापोह' या 'सामान्यलक्षण' इन संज्ञाओं से बौद्ध दर्शन में निर्देश किया जाता है। अन्यापोह, अर्थात् इतर की व्यावृत्ति, यह वस्तु में प्रतीत होने वाले सामान्य धर्म का स्वरूप बौद्ध मानते हैं। वस्तुमात्र स्वलक्षण होने से उनमें सामान्य धर्म वास्तव में हो ही नहीं सकता। जो कल्पनावश प्रतीत होता है वह प्रत्येक वस्तु के इतरव्यावर्तक स्वरूप के कारण है, ऐसा इस दर्शन में माना जाता है। वस्तुत: सामान्य समावेशक या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समाहारकारक ही होता है व्यावर्तक नहीं, जैसे मनुष्यगत मनुष्यत्व सब मनुष्यों को अपनी परिधि में समेटता है, मनुष्यातिरिक्त का अपवारण करना यह इस समाहार का परिणाम है न कि उसका उद्देश्य। लेकिन वस्तुसत् के स्वलक्षण, याने एक प्रकार से अन्यव्यावर्तक रूप में ही समझने के कारण बौद्ध दर्शन इतरव्यावृत्ति को वस्तुसत् का लक्षक मानें तो आश्चर्य नहीं। सामान्य लक्षण यह 'पारिभाषिक' संज्ञा इसी तथ्य पर आधारित मानी जा सकती है।

यहां हम जिस व्यावृत्ति का लक्षण के रूप में विचार करने वाले हैं वह उक्त व्यावृत्ति से भिन्न है। कोई भी वस्तुगत विध्यात्मक धर्म जब किसी भी रूप में अपरिमेय प्रतीत होता है तब उसका निर्वचन व्यावृत्ति के द्वारा ही करना पड़ता है। कुछ उदाहरण लें। कालिक या दैशिक विस्तार की परिमापक भिन्न-भिन्न इकाइयां, जैसे घंटा, दिन, मास़, वर्ष, शताब्दी आदि एवं फीट, गज, फर्लांग, मील, योजन आदि होती हैं। इन इकाइयों को उक्त विस्तारों की अधिकाधिक वृद्धि होने के साथ-साथ बढ़ाते रहना पड़ता है। जैसे काल की इकाई को प्रकाश वर्षों में और स्थल की इकाई को पार्सेक, मेकापार्सेक आदि के रूप में बढ़ाना पड़ता है। ऐसा करने पर भी काल और स्थल की वास्तविक अनंतता का परिमापण ठीक तरह करना संभव नहीं होता। यही बात अन्य धर्मों की भी है। जैसे सौन्दर्य एक वस्तुगत आनन्ददायक गुण है जिसकी अनेक श्रेणियां हो सकती हैं और होती हैं। भिन्न भिन्न वस्तुएं एक-दूसरे से कम- अधिक सुन्दर होती हैं। यदि कोई वस्तु हमें अतीव सुन्दर प्रतीत हो तो उसकी सुन्दरता का यथावत् वर्णन किसी उपयुक्त शब्द से करना सरल नहीं होता। और अगर इस सुन्दरता से हम पूर्णतया अभिभूत हो जायें तो उसका हम किसी भी ज्ञात शब्द से वर्णन या निर्देश तक नहीं कर पायेंगे। यही बात परम सत्य ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द स्वरूप के संबंध में उपनिषत्कार ऋषियों को अनुभूत हुई जिस कारण वे ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन 'नेति नेति' ऐसे केवल सर्वनिषेधपरक शब्दों से करते हैं। ब्रह्म की सन्मयता, चिन्मयता और आनन्दमयता लोकातीत है। उसकी इयत्ता, या सही शब्दों में कहें, अनन्तता का किसी भी विध्यर्थक शब्द से वर्णन या निर्देश संभव न होने के कारण ही इसके लिये अन्यव्यावृत्तिपरक 'नेति नेति' इन निषेधबोधक पदों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार विशेष प्रकार की वस्तुओं या अति जटिल या अत्यंत मौलिक संप्रत्ययों को लक्षित करने के लिए इतर-निषेधपरक लक्षणों का कभी-कभी उपयोग करना पड़ता है।

दि इन्क्लेव, गार्डंस,
मानुकॉ, ऑकलैंड (न्यूज़ीलैंड)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद' की समीक्षा पर कुछ स्पष्टीकरण

भारतीय दर्शन-परम्परा में प्राप्यकारित्व की अवधारणा पर डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित **'भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद'** पर प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़ द्वारा लिखी गयी समीक्षा पर कुछ स्पष्टीकरण देना चाहता हूँ। इसका कारण वस्तुगत रूप से यह है कि उपर्युक्त समीक्षा में मेरे आलेख **'न्यायदर्शन में इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद'** पर विद्वान समीक्षक ने कुछ एक स्पष्टीकरणों की अपेक्षा भी की है तथा कुछ आक्षेप भी लगाये हैं। वस्तुत: उक्त समीक्षा में जो बिन्दु उठाये गये हैं उनका स्पष्टीकरण देना इस कारण विशेष तौर पर आवश्यक हो जाता है क्योंकि वे कुछ गम्भीर किस्म के हैं। प्रो. द्राविड़ अपनी समीक्षा में जिन बातों को आपत्तिजनक मानते हैं तथा खुद को असहमत पा रहे हैं, वे इस प्रकार हैं :

प्रथमतया वे अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए विशेष्यता को जोड़कर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष बनाने पर सवाल खड़ा करते हैं। इसको उन्होंने एक विवाद्य मुद्दा माना है। (द्रष्टव्य, पृ ८५, उन्मीलन वर्ष २१, अंक १, जनवरी २००७) द्वितीयतया वे 'विशेष्यज्ञान विशिष्टबुद्धि के प्रति कारण नहीं होता है' मेरे इस कथन से खुद को असहमत पाते हैं। उन्होंने मेरे एक परिच्छेद को उद्धृत करते हुए सवाल उठाया है कि "उक्त परिच्छेद में परस्पर विरुद्ध बातें कही गयी सी लगती हैं। एक कथन, 'विशिष्टज्ञान के लिए विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है', यह है और दूसरा 'अगर विशेष्य अयोग्य (यानि अज्ञेय) हो तो चाक्षुष विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं होता' यह है। इनका परस्पर विरोध स्पष्ट है। इन वाक्यों के पूर्व 'विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि के लिए विशेषण का ज्ञान कारण होता है विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है' यह वाक्य है। क्या इस वाक्य में कही गयी बात सत्य हो सकती है? किसी भी विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में विशेष्य पूर्वगृहीत होता है। उसके बिना उसके विशेषण से विशिष्टताबुद्धि उत्पन्न होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।" (द्रष्टव्य, पृ. ८६, उन्मीलन वर्ष २१, अंक १, जनवरी २००७) विद्वान समीक्षक के उपर्युक्त कथन व आक्षेप न्यायवैशेषिकसम्प्रदायीय मान्यताओं व सिद्धान्तों से विपरीत व अतार्किक हैं, मैं इस स्पष्टीकरण में इसी बात को बतलाना चाह रहा हूँ।

पहले प्रथम प्रश्न देखें—क्या विशेष्यता को संयोग, संयुक्तसमवाय, समवाय व समवेतसमवाय के साथ जोड़कर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के रूप में प्रस्तुत करना न्यायवैशेषिकसिद्धान्तसम्मत नहीं है? लेकिन यहां पर यह ध्येय है कि इस प्रश्न के उत्तर के क्रम में ही प्रो. एन. एस. द्राविड़ के द्वितीय आक्षेप का उत्तर प्राप्त हो जायेगा। इसके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर पर दृष्टि डालने से पूर्व इस प्रश्न को ज़रा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो शायद समस्या का समाधान ज़्यादा सुकर होगा। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की षड्विधता के विषय में सबसे पहला प्रामाणिक विवेचन **न्यायवार्तिक** में प्राप्त होता है । उद्योतकर न्यायवार्तिक में कहते हैं कि **"सन्निकर्षः पुनः षोडाभिद्यते। संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायो विशेषणविशेष्यभावश्च।"**[१] आगे स्वयं उद्योतकार बताते हैं कि **"समवाये चाभावे च विशेषणविशेष्यभावादिति"**[२]। इस प्रकार हम पाते हैं कि अभाव व समवाय का प्रत्यक्ष करने के लिए विशेषणविशेष्यभावात्मक सन्निकर्ष का स्वीकार किया गया है। इसका विस्तार के साथ विवेचन मेरे उपर्युक्त आलेख में किया जा चुका है। अब यह प्रश्न एक पहेली की तरह सामने आता है कि विशेषणविशेष्यभाव किस तरह से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की भूमिका निभा सकेगा। यह बात नव्यन्याय परम्परा के आने तक एकदम से साफ हो गयी थी कि न्यायपरम्परा के मान्य सिद्धान्तों के हिसाब से विशेषणविशेष्यभाव को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष मान पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध की जैसी अवधारणा न्यायपरम्परा में स्वीकार की जाती है तद्नुसार विशेषणविशेष्यभाव तो सम्बन्ध ही नहीं बन सकता है, तब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष किस प्रकार से हो सकेगा? यह समस्या, मैं समझता हूँ कि, वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वानों को भी परेशान करती रही होगी। शायद इसी कारण वे ऊपर उद्धृत **न्यायवार्तिक** के वाक्य की व्याख्या करने के अवसर पर विशेषणविशेष्यभाव के स्थान पर केवल विशेषणभाव पद का प्रयोग करते दिखायी देते हैं।[३] परन्तु समस्या यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है। अगर अभाव का भान विशेषणता सन्निकर्ष से होता है, जैसाकि वाचस्पति मिश्र मानने का पक्ष प्रस्तुत करते हैं, तो अभाव को प्रथमतया विशेषण बनकर भासित होना चाहिए। साथ ही दूसरी बात यह भी सामने आ खड़ी होती है कि क्या यह न्यायवार्तिककार उद्योतकर के द्वारा उपस्थापित पक्ष से विचलन नहीं है? अगर हम न्यायवैशेषिकपरम्परा के प्रकरणग्रन्थों को देखें तो पायेंगे कि अधिकांश स्थलों पर विशेषणविशेष्यभाव पद का ही प्रयोग इन्द्रियार्थसन्निकर्षों का परिगणन करने के अवसर पर किया गया है। **तर्कभाषा** आदि ग्रन्थों में सीधे सीधे विशेषणविशेष्यभाव को ही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए विवरण किया गया है।

आखिर इसका कारण क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढने के क्रम में मुझे यह ज्ञात हो पाया कि वस्तुतः विशेषणविशेष्यभाव नामक किसी एक सन्निकर्ष का स्वीकार करने की मंशा न्यायवैशेषिकपरम्परा के विद्वानों की नहीं है, अपितु वे यह बताना चाहते हैं कि विशेषणता तथा विशेष्यता को बारी-बारी से जोड़कर विविध सम्बन्धों को सन्निकर्ष के रूप में स्वीकार करना अपेक्षित है। नव्यन्याय के प्रवर्तक के रूप में विख्यात गङ्गेशोपाध्याय ने इस प्रकरण पर **इन्द्रियार्थसन्निकर्षवाद** में चर्चा नहीं की है, न उन्होंने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वहां पर विशेष्यता को जोड़कर सम्बन्ध बनाने की बात ही कही है। साथ ही गङ्गेशोपाध्याय ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है उससे तो यही प्रतीत होता है कि वे विशेषणविशेष्यभाव के स्थान पर विशेषणता को प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं–**''विशेषणतया शब्दाभावस्य, इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतया समवायघटाभावा-देर्योग्यसन्निकर्षादेव ग्रहो न सन्निकर्षमात्रात्''**[४] यह गङ्गेशोपाध्याय का वाक्य है। परन्तु गङ्गेशोपाध्यायप्रणीत तत्त्वचिन्तामणि के अन्य स्थलों का ध्यान से परिशीलन करने पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि गङ्गेशोपाध्याय विशेषणता व विशेष्यता को जोड़कर सन्निकर्ष बनाने की बात से पूरी तरह से सहमत हैं। असलियत में विशेषणविशेष्यभाव को सन्निकर्ष के रूप में स्वीकार करना बिना विवेचन के ही सम्भव है। इसका कारण यह है कि विशेषणविशेष्यभाव तो सम्बन्ध ही नहीं हो सकता है, इस कारण विशेषणविशेष्यभाव को सन्निकर्ष के रूप में मान्यता प्रदान कर पाना मुश्किल ही नहीं असम्भव है। इसी असुविधा को देखते हुए गङ्गेशोपाध्याय आदि विद्वान किस प्रकार से इस मुश्किल से निकला जा सके, इस पर विचार करते हुए विशेष्यता व विशेषणता तथा इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता व इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। परन्तु गङ्गेशोपाध्याय अपने उपर्युक्त कथन के कारण असुविधा का सामना करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, जो कशमकश के रूप में निर्विकल्पवाद में सामने आती है। गङ्गेशोपाध्याय अपनी असुविधा को उपस्थापित करते हैं कि ''चूंकि अभाव का भान प्रतियोगिभानसापेक्ष हुआ करता है इस कारण अभाव का निर्विकल्पक भान नहीं माना जा सकता है। अब अगर अभाव का निर्विकल्पक भान सम्भव है तो किस प्रकार से 'घटाभाववद् भूतलम्' यह ज्ञान सम्भव हो पायेगा क्योंकि विशेषण का ज्ञान हुए बिना इस प्रकार का ज्ञान तो सम्भव ही नहीं है? अब अगर घटाभाव का ज्ञान हुए बिना उपर्युक्त 'घटाभाववद् भूतलम्' यह ज्ञान सम्भव मान लिया जाये तो समान युक्ति से समस्त ज्ञानों की उत्पत्ति के लिए विशेषज्ञान की अपेक्षा नहीं रह जाती है, ऐसा मानना पड़ जायेगा और अन्ततः निर्विकल्पकप्रत्यक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि विशिष्टज्ञान के पूर्व विशेषणज्ञान की अनिवार्यता के नियम का तो व्यभिचार इसी अभावज्ञान में ही हो जायेगा। (गङ्गेशोपाध्याय निर्विकल्पकज्ञान की सत्ता को सविकल्पक के द्वारा विशेषणज्ञान द्वारा जन्य होने के नियम से ही सिद्ध करते हैं। सविकल्पकज्ञान, जो कि विशिष्टज्ञानात्मक हुआ करता है, विशेषणज्ञान से जन्य होता है और अन्ततः निर्विकल्पक के द्वारा ही विशिष्टज्ञान के पूर्व विशेषणज्ञान सम्भव दिखता है, क्योंकि सविकल्पक के द्वारा विशेषणज्ञान होने पर तो पुनः उस सविकल्पक के पूर्व किसी दूसरे सविकल्पक की ज़रूरत पड़ेगी। अब अगर घटाभावात्मक विशेषण का ज्ञान हुए बिना ही 'घटाभाववद् भूतलम्' यह ज्ञान सम्भव हो तो समान युक्ति से समस्त सविकल्पक ज्ञान बिना विशेषणज्ञान के सम्भव हो सकते हैं। अतः निर्विकल्पक ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकेगी।)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किन्तु ऐसा नहीं है। पहले 'भूतले घटो नास्ति' ऐसा ज्ञान हुआ करता है। इस ज्ञान में भूतल विशेषण है और अभाव विशेष्य है, विशिष्टबुद्धि के प्रति विशेष्यज्ञान कारण नहीं हुआ करता है। उसके बाद भूतलविशेष्यक घटाभाववत् यह ज्ञान हुआ करता है।'' यहां पर गङ्गेशोपाध्याय की पंक्ति है–''**यद्यभावे न निर्विकल्पकं तदा घटाभाववद्भूतलमिति ज्ञानं न स्यात्, विशेषणज्ञानं विना तदभावात्। भावे वा न निर्विकल्पकसिद्धिः। विशिष्टज्ञानस्य तत्रैव व्यभिचारादिति चेत् न। प्रथमं भूतले घटो नास्तीति बुद्धिः। तत्र भूतलं विशेषणं, अभावो विशेष्यः, विशेष्यज्ञानञ्च न कारणम्। पश्चाद्भूतलविशेष्यकं घटाभाववदिति ज्ञानम्**''।[५] अब यह एकदम से सुस्पष्ट हो जाता है कि विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि के प्रति न्यायपरम्परा में विशेषणज्ञान को तो कारण माना जाता है, परन्तु विशेष्यज्ञान को कारण नहीं माना जाता है। प्रो. एन. एस. द्राविड़ जिस बात को अविश्वसनीय बता रहे हैं वस्तुतः वही न्यायपरम्परा का मान्य सिद्धान्त है। प्रो. द्राविड़ की यह धारणा नितान्त भ्रामक व न्यायशास्त्रीय मान्यताओं के विरुद्ध है कि ''किसी भी विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में विशेष्य पूर्वगृहीत होता है। उसके बिना उसके विशेषण से विशिष्टताबुद्धि उत्पन्न होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।'' परन्तु उपर्युक्त विवेचन के प्रसङ्ग में आने वाली असुविधा की ओर गङ्गेशोपाध्याय का ध्यान है। वे तुरन्त पूछते हैं कि ''लेकिन यह कहा गया था कि इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता-सन्निकर्ष से अभाव का ग्रहण होता है। (ध्येय है कि **इन्द्रियार्थसन्निकर्षवाद** में गङ्गेशोपाध्याय स्वयं यह बात कह चुके हैं, जिसे कि मैंने विगत पृष्ठों में उद्धृत किया है) तो आख़िर वह किस प्रकार से विशेष्य के बतौर ज्ञात हो सकेगा? तो भूतलविशेषणता रूप अपनी प्रत्यासत्ति के द्वारा अभाव का ग्रहण हुआ करता है। अभाव का विशेषण के रूप में भान नहीं होता, इसी कारण आचार्य (उदयनाचार्य) के द्वारा 'वायौ रूपाभावः' इस प्रतीति के चाक्षुष होने की बात कही गयी है क्योंकि अयोग्य विशेष्य में इन्द्रिय की सामर्थ्य विशिष्टज्ञान कराने की नहीं होती है।''[६] यहां पर **प्रकाश** व्याख्या के लेखक रुचिदत्त मिश्र व्याख्या करने के क्रम में कहते हैं कि ''अभाव का भान विशेषणता से ही नहीं होता है, यह उसका अर्थ है।''[७] यह निश्चित रूप से इसी ओर सङ्केत करता है कि अभाव का भान कहीं पर विशेष्यता-सन्निकर्ष के द्वारा तथा अन्यत्र विशेषणता-सन्निकर्ष के द्वारा सम्भव होता है।

अन्नंभट्ट, जिन्होंने **तत्त्वचिन्तामणि** पर एक व्याख्या लिखी है, न्यायवैशेषिक परम्परा में अत्यन्त सम्मानित अपने प्रकरणग्रन्थ **तर्कसङ्ग्रह** में विशेषणविशेष्यभाव को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के रूप में परिगणित करते हैं, तथा उसकी स्वोपज्ञ व्याख्या **तर्कसङ्ग्रहदीपिका** में कहते हैं कि ''**अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः। तदुपपादयति शब्दत्वेति। घटाभाववदिति। भूतलं विशेष्यं, घटाभावो विशेषणम्। भूतले घटो नास्तीत्यत्र घटाभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम्**'' (इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पर विवेचना के अवसर पर)। विशेषणविशेष्यभाव का आशय क्या है? इसका उत्तर देते हुए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्नम्भट्ट वहीं पर कहते हैं कि "**विशेषणविशेष्यभावो विशेषणविशेष्यस्वरूपमेव, नातिरिक्तः सम्बन्धः**"। तर्कसङ्ग्रह की ही एक अन्य व्याख्या **पदकृत्य** में यह बात कुछ ज़्यादा सुस्पष्ट रीति से कही गयी है– "**विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेति बोध्यम्। इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यत्वम्, इन्द्रियसम्बद्धविशेषणत्वमिति यावत्। ... भूतले घटो नास्तीत्यत्र घटाभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम्**" (वहीं पर)। आशय यही है कि विशेषणविशेष्यभाव का तात्पर्य विशेषणभाव व विशेष्यभाव से है, जो कि अन्ततः विशेषणता व विशेष्यता के रूप में परिफलित हो जाते हैं। इस प्रकार विशेष्यता व विशेषणता दोनों को ही जोड़कर अभाव के प्रत्यक्षीकरण के लिए सन्निकर्ष बनाना युक्तिसङ्गत तथा न्यायपरम्परा के मान्य सिद्धान्तों की सङ्गति के लिए आवश्यक है।

मेरे 'विशिष्टज्ञान के लिए विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है' और 'अगर विशेष्य अयोग्य (यानि अज्ञेय) हो तो चाक्षुष विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं होता' इन दो कथनों में विरोध दिखाने का प्रयास भी अयुक्तिसङ्गत है। वस्तुतः इनमें कोई विरोध नहीं है। मैंने अयोग्य पद का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य अज्ञेय नहीं है। प्रो. द्रविड़ अयोग्य का अर्थ अज्ञेय समझने के कारण ही विरोध को उद्भावित कर रहे हैं। चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूप व महत्परिमाण को भी कारण माना गया है।[6] ये अगर किसी द्रव्य में विद्यमान हैं तो वह द्रव्य चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य माना जाता है अन्यथा उसको चाक्षुषप्रत्यक्ष के योग्य नहीं माना जाता है। रूपाभाव का प्रत्यक्ष चक्षु के द्वारा ही सम्भव है परन्तु वायु का प्रत्यक्ष चक्षु के द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि उसमें उद्भूत रूप नहीं है। इसी कारण वायु चाक्षुषप्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। "वायुः रूपाभाववत्" यह चाक्षुषविशिष्टज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि इस ज्ञान में विशेष्य बनता है वायु जो कि चक्षु के द्वारा प्रत्यक्षायोग्य है। यही मेरे उपर्युक्त कथनों का तात्पर्य है। विशेष का भान तत्काल ही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा हुआ करता है। इसी से सम्बन्धित प्रश्नों का विवेचन मेरे द्वितीय आलेख '**ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष की समस्यायें**' में किया गया है। किसी भी विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में विशेष्य के पूर्वगृहीत होने की बात पूरी तरह से भ्रामक व युक्तिहीन है।

अब चूंकि अपने उक्त आलेख के सम्बन्ध में कुछ लिख रहा हूँ, तो एक भूल की ओर सङ्केत करना उचित जान पड़ता है। मैंने उक्त आलेख में समवेतविशेषणता व समवेतसमवेतविशेषणता सन्निकर्षों से क्रमशः शब्दनिष्ठ रूपत्वाभाव व शब्दत्वनिष्ठ रूपत्वाभाव के प्रत्यक्ष की बात कही है, जो कि असङ्गत है। रूपत्वाभाव का प्रत्यक्ष श्रोत्र के द्वारा सम्भव नहीं है। श्रोत्र के लिए रूपत्वाभाव प्रत्यक्षयोग्य इस कारण नहीं है क्योंकि अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष के लिए प्रतियोगी की योग्यता अपेक्षित हुआ करती है। श्रोत्र केवल शब्द, शब्दत्व व शब्दत्वावान्तर जातियों कत्व, खत्व आदि का ग्रहण कर सकता है। अतः केवल इनके अभाव का ही प्रत्यक्ष श्रोत्र के द्वारा सम्भव है। इस कारण उक्त आलेख में समवेतविशेषणता व समवेतसमवेतविशेषणता सन्निकर्षों से क्रमशः शब्दनिष्ठ रूपत्वाभाव व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शब्दत्वनिष्ठ रूपत्वाभाव के प्रत्यक्ष की जगह पर क्रमशः ककारादिशब्दनिष्ठ व कत्वादिजातिनिष्ठ खत्वाद्यभाव के प्रत्यक्ष की बात समझनी चाहिए।

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणियाँ

१. पृ. १९९, **न्यायवार्तिकम्, न्यायदर्शनम् न्यायभाष्यवार्तिकतात्पर्यटीका-परिशुद्धियुतम्**, सम्पादक - प्रो. अनन्तलाल ठाकुर, प्रकाशक – मिथिला अनुसन्धान संस्थान, दरभङ्गा, बिहार।

२. पृ २००, वही।

३. एवमभावेऽपि यदिन्द्रियसंयुक्तं वा यद्वेन्द्रियसमवेतं यथा भूतले घटो नास्तीति वा नास्त्यकारेऽनुदात्तस्वर इति वा तस्य संयुक्तस्य वा विशेषणभावेन, समवेतस्य वा विशेषणभावेन चेन्द्रियप्रत्यासत्त्या ग्रहणम्। पृ २००, **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, वही।**

४. पृ. ६१२, **तत्त्वचिन्तामणि (प्रत्यक्षखण्ड)**, रुचिदत्तमिश्रकृत **प्रकाश** व रामकृष्णाध्वरिन् कृत **न्यायशिखामणि** व्याख्यासहित, सम्पादक –एन. एस. रामानुज ताताचार्य, प्रकाशक - केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९७३

५. पृ. ८६६-८६७, वही।

६. ननु इन्द्रिसम्बद्धविशेषणतया अभावो गृह्यत इत्युक्तम्। अतः कथं स विशेष्य इति चेत्-भूतलविशेषणतया स्वभावप्रत्यासत्त्या गृह्यत इति तदर्थः। न त्वभावस्य विशेषणतया भानम्, अत एव वायौ रूपाभाव इति प्रतीतेश्चाक्षुषत्वमुक्तमाचार्यैः। अयोग्यविशेष्ये इन्द्रियस्यासामर्थ्यात्। पृ. ८६७-८६८ वही।

७. न त्विति। न तु अभावस्य विशेषणतयैव भानमिति तदर्थ इत्यर्थः। प्रकाश, पृ. ८६८ वही।

८. हालांकि महत्परिमाण समस्त छह प्रकार के प्रत्यक्षों के प्रति कारण माना गया है। **कारिकावली** में विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने कहा है–**ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते। महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम्।।** (कारिका-५८) वहीं पर स्वोपज्ञ व्याख्या **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** में कहा गया है–"द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम्। द्रव्यसमवेतानां गुणकर्मसामान्यानां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन, द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्वकर्मत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति। पृ. २५४ **कारिकावली, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरी** व **रामरुद्री** सहित, प्रकाशक–चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१९८२

— सच्चिदानंद मिश्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक समीक्षा

चेतना मूल्य संस्कृति (कांशयसनेस वेल्यू कल्चर), गोविन्दचन्द्र पाण्डे
प्रकाशक : राका प्रकाशन, इलाहाबाद, २००६

आज से कोई तीन दशक पूर्व प्रोफेसर गोविंदचन्द्र पाण्डे की पुस्तक 'दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर' प्रकाशित हुई थी और 'दार्शनिक त्रैमासिक' वर्ष २३, अप्रेल १९७७/ अंक २ के पृष्ठों पर मैंने उसकी एक समीक्षा लिखी थी। वह पुस्तक मूलतः इतिहास-दर्शन के विवेचनार्थ लिखी गई थी, जिसमें इतिहास-बोध को पाण्डे जी ने संस्कृति-तत्त्व-मीमांसा के आधार से स्पष्ट किया था। उनके अनुसार, संस्कृति का एक अनिवार्य पक्ष उसमें सन्निविष्ट ऐतिहासिकता है, जिसका अंतर्सम्बन्ध उसके अन्य दो पक्षों–मूल्य-बोध और चैत्त सक्रियता–से है। इन सभी पक्षों को ऐकांतिक या समन्वित रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। परन्तु उनकी ऐकांतिक व्याख्या से न केवल संस्कृति की सही व्याख्या नहीं हो पाती बल्कि साथ ही पृथक्-पृथक् रूपेण इतिहास, मूल्य और चेतना विषयक हमारी समझ भी भ्रामक हो सकती है। विशेषकर उस स्थिति में इतिहास और मूल्य अधर में टँगे लग सकते हैं, जबकि चेतना अपने विस्तार में एक अंतहीन ज़लज़ला सा लगने लगती है। दूसरी ओर, उनकी समन्वित व्याख्या से यह बात उभरती है कि किस तरह एक ही चैत्त संरचना में ऐतिहासिकता और मूल्य-बोध समाये रहते हैं। इससे हमें मानव-चेतना की सोद्देश्यता के स्वरूप को भी समझने में मदद मिलती है। अपनी अभी हाल में प्रकाशित पुस्तक **चेतना मूल्य संस्कृति** में पाण्डेजी ने काफी विस्तार से इन बातों पर प्रकाश डाला है और इस क्रम में उन्होंने सम्बन्धित पाश्चात्य और भारतीय विचारधाराओं को भी जाँचा-परखा है। इस तरह, इसे उनके इतिहास-दर्शन की अगली कड़ी के रूप में देखा जा सकता है, और इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है–संस्कृति-दर्शन।

प्रकटतः चेतना के साथ इतिहास और संस्कृति के अंतर्सम्बन्ध को लेकर मतभेद तब उभरता है जब हम चैत्त सक्रियता में स्व-संवेद्यता और अतिक्राम्यंता का लक्षण देख पाते हैं। आधुनिक विज्ञानवादी समाजशास्त्री हमें यह बताने को आतुर हैं कि इतिहास अथवा संस्कृति का चेतना की स्व-संवेद्यता और अतिक्राम्यता से कुछ लेना-देना ही नहीं, और यह भी कि वैसी चेतना जैसी कुछ चीज़ होती भी नहीं। पाण्डे जी इस समाजशास्त्रीय अभिमत को एक गंभीर विचार नहीं मानते, क्योंकि मानव-चेतना का मूल प्रश्न मानव के व्यक्ति-स्वरूप से जुड़ा है जो ठीक-ठीक किसी समाजशास्त्र या मनोविज्ञान जैसी विज्ञानविधिपरक गवेषणा की पकड़ में नहीं आ सकता। ऐसे सभी अध्ययन मुख्यतः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सादृश्यमूलक (वर्गीकरण), और यदा-कदा निगमनात्मक अपचय-विधि अपनाते हैं जिसमें कभी मानवीय चैत्त-सक्रियता की आंतरिकता का अध्ययन संभव नहीं हो पाता। मनुष्य ने अपनी विचारशीलता के उष:काल से ही मानव-भाव की आंतरिकता के अध्ययन-हेतु एक अन्य विधि को ढूँढ निकाला था, जो अब 'दार्शनिक विधि' कहलाती है। यही विधि दार्शनिक चिंतन और क्रिया का मौलिक एवं अपरिहार्य पक्ष है। संस्कृति-दर्शन और इतिहास-दर्शन के औचित्य और वांछनीयता को भी इसी दार्शनिक विधि का आधार प्राप्त है।

संस्कृति सामाजिक जीवन में अविकल रूपेण संपृक्त है और जीवन में उसकी यह अंतरंगता बहुआयामी है। इसे आकार देने वाली जिन ठोस घटनाओं, घटना-क्रमों का प्रवाह चल निकलता है, जिससे संस्कृति आगे बढ़ती है या बाधित होती है, वही इतिहास के विषय बनते हैं। यह देखने के लिए कि संस्कृति इस तरह आगे बढ़ी या बाधित हुई, हमें उन घटनाओं और घटना-क्रमों से परे संस्कृति में समाये उसके प्रेरणा-तत्त्वों, अर्थात् मूल्यों को पहचानना होता है। मूल्य संस्कृति के प्राण हैं और उन्हें पहचानने के लिए आवश्यक है उनसे प्राणिक भाववत्ता। ऐसी भाववत्ता केवल मानव-व्यक्ति-रूप में ही संभव है, क्योंकि व्यक्ति प्राण का मूल केन्द्र-बिन्दु है। किन्तु, दूसरी ओर, स्वयं व्यक्ति भाव उस विलक्षण सत्ता भाव की अपेक्षा वाला है जो निरपेक्षत: स्वतंत्र है, जो स्व-संवेद्य रूपेण चेतन है। इस तरह, संपूर्णता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इतिहास (देश-काल विशिष्ट घटनाओं, घटना-क्रमों का इतिहास) इतिहास-दर्शन में, इतिहास-दर्शन संस्कृति-दर्शन में, संस्कृति-दर्शन मूल्य-मीमांसा में, और मूल्यमीमांसा अंतत: चेतना की दार्शनिक विवेचना में ढल जाये।

अत: स्वाभाविक है कि पांडेजी संस्कृति को 'मूल्यान्वेषण की एक परंपरा' मानते हैं। परम्परा से उनका आशय है, वैयक्तिक आत्म-चेतनाओं का संप्रेषण के माध्यम से शृखंलाबद्ध होना। यं परंपराएँ इतिहास के अध्ययन का विषय होती हैं जबकि इन परम्पराओं में अनुस्यूत जो मूल्य होते हैं वे किसी ऐतिहासिक अध्ययन की सामग्री नहीं होते, क्योंकि वे आत्म-चेतन वैयक्तिक अनुभव में साक्षात्कृत विषय हैं जो सामाजिक संप्रेषण व परंपरा में केवल प्रतीकरूपेण ही प्रविष्ट हो पाते हैं। वस्तुत:, प्रकृति-जगत् से भिन्न संस्कृति-जगत् के वस्तु-मात्र प्रतीक रूप हैं। उनका आत्म-चेतना वाला अनिवार्य संदर्भ है, जबकि प्राकृतिक वस्तुओं का केवल प्रतिनिधानात्मक (रिप्रेजेंटेश्नल) चेतना वाला संदर्भ है। प्रतिनिधानात्मक चेतना परिस्थिति-सापेक्ष होती है, जबकि आत्म-चेतना निरपेक्षत: स्वतंत्र है। आत्म-चेतना का क्षेत्र है मूल्यों, प्रतीकों, विधानों वाला आभ्यंतर या आध्यात्मिक क्षेत्र, जिसे प्राचीनकाल से भारत में ऋत, धर्म जैसे शब्दों से अभिहित किया गया था। इस तरह मूल्यान्वेषण की परंपरा के रूप में संस्कृति का अनिवार्य संदर्भ आत्म-चेतना का है, चेतना की सक्रिय आध्यात्मिकता का है। इस रूपमें संस्कृति एक सार्वभौम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संघटना है। इसीलिए संस्कृति की पहचान किसी निश्चित निकष के आधार से संभव नहीं। आत्म-चेतना तो केवल स्वरूपेण परिभाषित हो सकती है। अधिक से अधिक संस्कृति को समाज की आत्म-चेतना कहा जा सकता है और समाज को व्यक्ति का विशदीकृत रूप। इस दृष्टि से, जब आधुनिक इतिहासविद् समाजशास्त्री और नृतत्त्वशास्त्री समाज को उसके देश-काल से परिभाषित करते हैं, तो इसे केवल एक पद्धतिमूलक (वैज्ञानिक) पूर्वाग्रह के रूप में समझा जाना चाहिए, क्योंकि अन्यथा समाज को एक ऐसे मानव-समूह के रूप में देखा जा सकता है जो संस्कृति के आधार से समाज के रूप में गठित है। संस्कृति- आधारित समाज की इस समझ के लिए संस्कृति में भावात्मक भागीदारी जरूरी है और उसके लिए चेतना की अतिक्राम्यता को मान्य करना आवश्यक है। पर इसकी इजाज़त वैज्ञानिक पद्धति में नहीं है।

सांस्कृतिक चेतना की अतिक्राम्यता को समझने के लिए संस्कृति के अभ्युपगमों पर ध्यान देना चाहिए, जो पांडेजी के अनुसार तीन हैं, परिवर्तनमूलक, निर्देशमूलक और स्तरमूलक। प्रथम का संबंध क्रमावर्त्तन से है जो अभिप्रायमूलक चेतना के प्रकाश में एक विकासमान प्रक्रिया का बोध कराता है, अर्थात् विकास में निहित अर्थवत्ता का बोध। निर्देशमूलक अभ्युपगम चेतना की बहिर्मुख्ता से अंतर्मुखता की ओर गति का निर्देश करता है, अर्थात् प्रकृति से आरंभ कर क्रमश: अनुभव और प्रतीक (बिंब, प्रत्यय) से होकर मानस रूपों (विज्ञानमूल, कलामूल, तर्कमूल, इतिहासमूल, रहस्यमूल) तक। समग्र संस्कृति का संदर्भ वाला तृतीय (स्तरमूलक) अभ्युपगम आत्मबोधपूर्वक कमोबेश शुद्ध चेतना तक पहुँचने की सक्रियता को निदर्शित करता है। इस तरह संस्कृति में, उसकी चेतना में, सदैव एक ऐसी सक्रियता गतिशील रहती है जिसमें उसका आभ्यंतर उजागर होने को बेचैन रहता है। संस्कृति का स्वरूपत: एक आभ्यंतर कालिक संदर्भ होता है जिसमें आत्म-प्रबोधन (आत्म चेतना) की प्रक्रिया और उसमें प्रकट प्रतीकों का संसार-चक्र घटित होता है, जो प्राकृतिक वस्तुओं व घटनाओं के संदर्भ वाले काल और उसके क्रम से बिल्कुल भिन्न है। यहां भूतकाल जीवंत होता है और वर्तमानकाल भविष्योन्मुखी। यह अतिक्राम्यता के अनिवार्य गुण वाले आत्म-प्रबोधन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। संस्कृति के अभ्युपगमों में से होकर समाज के स्तर पर यही 'परम्परा' का रूप धरता है। अत: इस परंपरा की इतिहासपरक गवेषणा भी तत्त्वत: देश-कालबद्ध घटनाओं और घटना-क्रमों के इतिवृत्त तक सीमित न रहकर एक सार्वभौम सारग्राही विवेचना का रूप धारण कर लेती है, अर्थात् साधारण इतिहास की नियति तात्त्विक इतिहास में बदल जाने की होती है।

पांडेजी के संस्कृति-चिंतन के मूल में उनकी यह मान्यता है कि ''मानव-भाव का सार है 'आस्था', न कि 'बुद्धि'; और 'श्रम' तो बिल्कुल नहीं।'' किसी भी संस्कृति की विश्व-दृष्टि उसके आस्थापरक विश्वासों पर आधारित होती है, और उसमें घटित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्रांतियों का कारण इन आधारभूत विश्वासों में परिवर्तन होता है। व्यक्ति इस विश्व-दृष्टि की परिधि में रह कर ही विचार (बुद्धि-प्रयोग) करते हैं और तदनुसार अपने कार्यों (श्रम) को दिशा देते हैं। अत: आधुनिक इतिहासकारों द्वारा पोषित यह मत कि मनुष्य किसी कल्पित आदिम स्थिति से उठ कर उत्तरोत्तर सभ्य होते गये, एक सुविचारित मत नहीं है। मानव-विकास का वास्तविक निकष आधारभूत मूल्यों (विश्वासों) में परिवर्तन पर, आत्म-प्रबोधन के वैशिष्ट्य के रूपांतरण पर, निर्भर है। मानव-इतिहास का प्रारंभिक चरण ही सूक्ष्म भौतिक, जैविक और बौद्धिक स्तर पर आरंभ हुआ, और इन स्तरों पर हुए अनुभवों के विमर्श से जो बिंब (प्रतीक), प्रत्यय और व्यवहार-विधाएँ उभरीं उन्हीं से आदिम जीवन तथा परवर्ती सभ्यताओं का रूप भी निश्चित हुआ। मूल्यों को लेकर आदिम जीवन और सभ्य जीवन में कोई आधारभूत अंतर नहीं है। इसलिए मानव-इतिहास किसी सामान्य नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति को नहीं दर्शाता। संप्रति 'परंपरा' और 'आधुनिकता' को लेकर जो संभ्रम की स्थिति है उसे भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए। परंपराएँ संबंधित समाजों की 'स्मृतियाँ' हैं। समाज में निरंतरता का रूप उसी से बनता है, क्योंकि परंपरा अतीत के संप्रेषण का माध्यम है। परंपरा से कटे समाज में प्रतिबद्धता का अभाव पैदा होता है, जबकि प्रतिबद्धतामूलक संप्रेषण ही समाज के अतीत व वर्तमान को पुनर्व्याख्यायित करता हुआ परिवर्तनों के बीच उसकी एकरूपता बनाये रखता है। मूल्य-चेतना के लिए परंपरा का यह पहलू महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि समाज की पहचान उसकी संस्कृति में समाये मूल्य-बोध की निरंतरता से ही होती है। इस तरह परंपरा और परिवर्तन परस्पर व्याघाती नहीं हैं। अत: जहाँ तक आधुनिकता द्वारा किसी परंपरा के स्थानापन्न होने की बात है, यह मात्र परिवर्तन न होकर एक समग्र मूल्यांतरण है। यह परंपराओं का संघर्ष है। पराभूत परंपरा वाला समाज प्रतिबद्धताविहीन न होकर बिखर जाता है।

अत: पांडेजी का यह कहना ठीक ही है कि संस्कृति के संबंध में वास्तविक प्रश्न उसकी अर्थवत्ता और सत्यनिष्ठा को लेकर है। किन्तु इस प्रश्न, तथा ऐसे अन्य प्रश्नों, के समाधान हेतु गवेषणा की क्या पद्धति हो सकती है, इस विषय में प्रकटत: वे कुछ नहीं कहते, सिवाय इसके कि वह वैज्ञानिक पद्धति नहीं होगी। इस पद्धति को अपनाने से आधुनिक (पाश्चात्य) मानवतावाद भी पथभ्रष्ट हुआ है। उसमें संकल्प को इच्छा के साथ और बुद्धि को मूल्य-निरपेक्ष तार्किकता (विज्ञान) के साथ गडमड कर देने के कारण आधुनिक (पाश्चात्य) मनुष्य अ-बौद्धिक प्रवृत्तियों द्वारा चालित होकर मात्र तार्किक-वैज्ञानिक बुद्धि से दिशा-ज्ञान प्राप्त कर आस्थाहीनता की स्थिति में पहुँच गया है। तार्किक बुद्धि पर एकतरफा ज़ोर ने उसे सूक्ष्म भौतिक की जगह भौतिक को अपनाने तथा जैविक को पूर्णत: विवेकहीन बना देने की राह दिखलाई है। फलत: जैविक स्तर पर जटिल उलझनों ने और बौद्धिक स्तर पर नैतिक-आध्यात्मिक ऊसरपन ने उसे घेर रेखा है। आधुनिक मानवतावाद में व्यक्ति सामान्यीकृत मानव-स्वरूप का बंदी होकर रह गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसीलिए उसे आत्म-बोध की अपेक्षा प्रकृति-बोध अधिक आकर्षित करता है। इसके उलट, जहाँ एक ओर चीन में, जिसकी परंपरा में मानवतावाद की जड़ें अधिक गहराई तक धँसी हुई हैं, मानव-जीवन को अधिक ठोस (समाज) रूप में नैतिक-आनुभविक धरातल पर जीवंत बनाये रखा गया है, वहीं दूसरी ओर भारत में यत्नपूर्वक मनुष्य की अनुभवातिक्राम्यता के अर्थ व आवश्यकता की परंपरा को अधिकाधिक पुष्ट किया गया है। भारतीय परंपरा न तो प्रकृति और न ही समाज को मनुष्य की चरम प्रतिबद्धताएँ मानती है। प्रकृति पर विजय वस्तुत: मानव-प्रकृति पर आत्मा की विजय है। इसी तरह, मानव-जीवन का परम प्राप्तव्य समाज की कोई भावी अवस्था न होकर समग्र काल के अतिक्रमण का रहस्यबोध है। ऐसी अतिक्राम्यता ही भारतीय विश्व-दृष्टि का चरम आदर्श है। यह इहलौकिक जीवन में विकास का निषेधक न होकर, वैश्विक अतिक्रामी दृष्टि से उसका समग्रता की दृष्टि से समायोजन है, जैसाकि वह आश्रमों और पुरुषार्थों के भारतीय सिद्धान्त में निदर्शित है, जिसमें ऐकांतिक व्यक्तिवाद व ऐकांतिक समूहवाद दोनों का ही निषेध है। वास्तव में, भारतीय 'धर्म' की धारणा इस महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टि की वाहक है कि प्रत्येक समूह में व्यक्तियों को सहकारितापूर्वक व्यवस्थित किया जा सकता है, और पुन: विभिन्न समूहों को एक ऐसी बृहत्तर संरचना में व्यवस्थित किया जा सकता है जिसका आधार भौतिक व आर्थिक सहयोग हो तथा जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक अतिक्रमण के लिए अवकाश न रहे। यह अवधारणा एक ऐसे 'समाज-क्षेत्र' को संभव बनाती है जो एक 'व्यवस्थाओं की व्यवस्था' है, जिसमें अवरोधरहित सहयोगिता है, जिसमें विभिन्न जीवन-रूपों व सांस्कृतिक मूल्यों को साथ-साथ जिया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, 'धर्म' विश्व-समाज की संभावना को मूर्त्त रूप देने वाली अवधारणा है।

द्रष्टव्य है कि संस्कृतियों के बीच टकराहट के दो प्रमुख कारण हैं–अपूर्ण संप्रेषण और रुचियों का भेद, जो वस्तुत: सम्बन्धित आत्म-चेतनाओं के उच्चतर स्तर पर समन्वित नहीं हो पाने से होते हैं। भारतीय संस्कृति की समन्वयकारी अंतर्दृष्टि संस्कृतियों के बीच इस टकराहट को दूर कर उन्हें आत्मचेतना के एक अधिक ऊँचे स्तर पर सहकारी तत्त्वों के रूप में स्थापित कर सकती है। अत: टायनबी और स्पेंगलर के मतों के विपरीत, पांडेजी का मत यह जान पड़ता है कि सभ्यता और संस्कृतियों के संघर्ष में अंतत: भारतीय संस्कृति का उत्कर्ष ही मनुष्य मात्र के लिए कल्याणप्रद होगा। इस दृष्टि से, यह बात ध्यान में रखने की है कि आधुनिक प्रजातंत्रवाद के चलते, जिसे आज पश्चिम में और उससे प्रभावित भारत जैसे देशों में मानवतावाद का चरम विकसित रूप माना जाता है, व्यक्ति और समूह के वर्चस्व को लेकर जो घमासान मचा हुआ है, उसका कोई संतोषप्रद समाधान उक्त भारतीय अंतर्दृष्टि के प्रकाश में ही संभव है। परन्तु इस दिशा में हमें अधिक उत्साहित होने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि, जैसा पांडेजी कहते हैं, संस्कृतियों का इतिहास एक तरह से उनकी असफलता का इतिहास है। वह किन्हीं गिने-चुने व्यक्तियों द्वारा शिखर-विजय का, किन्तु अन्य जनों का उस शिखर तक नहीं पहुँच

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकने का इतिहास है। सामान्य जनों को भी वहाँ तक पहुँचाने का प्रयास होता तो है, किंतु प्राय: असफलता हाथ लगती है। अवश्य, 'प्रगति' के सिद्धान्त के आधुनिक पैरोकार सामान्य जनों के संबंध में भी संस्कृति के विकास की बात ज़ोर-शोर से करते हैं, किन्तु तब उनका वास्तविक आशय केवल सभ्यता के विकास से होता है। संस्कृति के इतिहास में उसके उच्चतर मूल्य (विवेकशीलता, मानवता, अतिक्राम्यता) आधारभूत हैं और उसकी प्रगति के मूल में हैं मूल्यपरक अर्थान्वेषण के तत्त्व (सृजन, संलाप, समीक्षा)। दूसरी ओर, सभ्यता की अर्थाभिव्यक्ति जिजीविषा और समृद्धि के मूल्यों–जैसे, प्रकृति-ज्ञान में वृद्धि, प्रकृति पर नियंत्रण, धन-साधन-वृद्धि द्वारा भोग-वृत्ति के उत्कर्ष से होती है। प्रकट ही सभ्यता की प्रगति से संस्कृति के लिए संकट पैदा हो सकता है।

संस्कृति में अर्थवत्ता और सत्यनिष्ठता के लक्षणों को समझने के लिए हमें उसकी मूल्यापेक्षी सततता को प्रकृति की मूल्य-निरपेक्ष घटनात्मक सततता से पृथक् रूप से देखना चाहिए। वस्तु-जगत् के रूप में प्रकृति चेतना के लिए है जबकि संस्कृति का भावोन्मेष आत्मचेतना में होता है। प्रकृति चेतना-निरपेक्ष तथ्यों व नियमों की एक व्यवस्था है, जबकि संस्कृति मूल्यान्वेषण की सामाजिक अभिव्यक्ति है जिसमें आत्म-तत्त्व का बोध और वस्तु-तत्त्व का प्रत्ययन होता है। मूल्यान्वेषण अनन्त की दिशा में प्रगति है, क्योंकि मूल्य स्वरूपत: पूर्णता का निकष है, और इसलिए उसके लिए कोई भी लब्धि वांछित आदर्श से कमतर ही होती है। इसीलिए, जबकि प्रकृति का अपना कोई इतिहास नहीं होता, सामाजिक प्रतीक-परंपरा से गुँथी संस्कृति सारत: ऐतिहासिक होती है। पुन:, चूँकि मूल्य के निहितार्थ में ढूँढना, चुनना और निर्णय लेना शामिल है, मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक और विकासमूलक होती है जिसमें अनुभूति की अपरोक्षता और संज्ञानात्मक निश्चितता के तत्त्व साथ-साथ पाये जाते हैं। यहां सत्ता-भाव और ज्ञान-भाव एक ही बिंदु पर स्थित होते हैं। ऐसा निस्संदेह आत्म-भाव की केंद्रस्थता से संभव हो पाता है। द्रष्टव्य है कि मूल्य न तो मात्र एक आत्मनिष्ठ संज्ञानात्मक वृत्ति है और न ही एक शुद्धत: वस्तुनिष्ठ तार्किक प्रत्यय। वह आत्म-चेतना की एक विधा है जिसे विमर्शत: सत्यनिष्ठता की तलाश होती है।

अब, इस तरह, संस्कृति के संदर्भ में आत्म-चेतना के अधिक आधारभूत होने से यह भी स्पष्ट है कि क्यों समाज की अपेक्षा व्यक्ति और सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति अधिक मौलिक अवधारणाएं हैं। पांडेजी के शब्दों में, सामाजिक वस्तुस्थिति आत्म-भाव का प्रक्षेप है और समाज-सिद्धान्त आत्म-ज्ञान का प्रक्षेप। अत: 'व्यक्ति' और ज्ञानाश्रित 'नियम' आधारभूत सामाजिक अभ्युपगम हैं। समाज-व्यवस्था मूल्याधारित नियमों की व्यवस्था है जिसके केंद्र में व्यक्ति प्रतिष्ठित है। व्यक्ति-भाव का केन्द्र आत्म-चेतना है जिसमें भीतर से यथार्थ और आदर्श का तनाव है, जो व्यक्ति-भाव में आत्मनिष्ठा और वस्तुनिष्ठा का द्वन्द्व बन कर प्रकट होता है। व्यक्ति अपने जैव आनुभविक संरचनागत इच्छा, सुख और स्वार्थ से ऊपर उठ, उनसे परे स्वतंत्र व विवेकपूर्ण आत्म-भाव की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतिष्ठा में ऐसी सार्वभौमता प्राप्त करता है जिस पर नैतिकता आश्रित होती है। इसी क्रम में यह भी समझना चाहिए कि संस्कृति ही सभ्यता का आधारतल है और वही उसकी सीमाएं व दिशायें तय करती है। इसीलिए सभ्यता का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने वाले इतिहासकार तत्संबंधी अपने अवगमन कों नैतिक-बौद्धिक बनने से नहीं रोक पाते। वस्तुतः मानवीय घटनाओं को बिना नैतिक उत्प्रेरकों के नहीं समझा जा सकता, यद्यपि उनकी व्याख्या अलग-अलग तरीकों से की जा सकती है।

अंत में, पांडेजी का यह मत भी उल्लेखनीय है कि जो बातें संस्कृति के संबंध में सही हैं वही उसके अंगों के बारे में भी सही हैं। धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, भाषा आदि संस्कृति के अंग हैं। धर्म और दर्शन के संदर्भ में इसे अधिक स्पष्टतापूर्वक देखा जा सकता है, क्योंकि इन सांस्कृतिक आयामों में हम अधिक पारदर्शितापूर्वक चेतना की अतिक्राम्यता और आध्यात्मिकता के सम्मुखीन होते हैं। प्रत्येक धर्म में कालिकता और नित्यता और इन दोनों के बीच संबंध की अवधारणाएँ होती हैं। कैसे कालविशिष्ट धार्मिक अन्तःसाक्षात्कार (रेवेलेशन) नित्य सत्ता से सुसंगत है, कैसे कालापेक्षी जीवन शाश्वत सत्य तक पहुँच पाता है जैसे प्रश्नों का समाधान हर धर्म में मिलता है। द्रष्टव्य है कि धर्म का यह विचार ही संस्कृति-बोध में भी जीवनगत यथार्थता और मूल्यपरक आदर्श को संरचनात्मक सततता के सूत्र में पिरोता है। यह धार्मिक अवधारणा दो रूपों में मिलती है—रूढ़िवादी और रहस्यवादी। धार्मिक साक्षात्कार को शब्दाश्रयी (जैसे वैदिक संदर्भ में) कर देने से रूढ़िवादी रूप, और उसे अनुभवाश्रित (जैसे बौद्धों द्वारा) करने से रहस्यवादी रूप। वैसे द्वितीय को प्रथम के सत्यापन के तौर पर मान लेने में कोई हर्ज नहीं है। स्थिति जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि धर्म के परिदृश्य में कालिकता से नित्यता की ओर संक्रमण वस्तुतः आत्म-तत्त्व की परावृत्ति है, जिसमें ईश्वरीय कृपा का अंशदान हो सकता है और/अथवा कर्म का कुशल (विवेकपूर्ण) संचालन होता है। भारतीय धार्मिक विचार के अनुसार, कालिकता में अवश्य एक असत् (अज्ञान) का तत्त्व है, और धर्म इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह मनुष्य का उसके अपने अस्तित्व के असत् तत्त्व से परिचय कराता है और साथ ही उसे आश्वस्त करता है कि नित्यता या शाश्वतता में उसकी पुनर्प्रतिष्ठा संभव है। धर्म काल में अ-काल की दृष्टि का धारक है।

दर्शन मानव-आत्म-बोध को बौद्धिक संप्रेषण की विधा में ढालता है। साधारण अनुभव से लेकर आत्मिक अनुभूति तक मानव-गवेषणा आभासों के विविध आवरणों से होकर गुज़रती है, जिन्हें मोटे तौर पर आनुभविक, व्यावहारिक और आध्यात्मिक स्तरों में रखा जा सकता है। दार्शनिक चिंतन वह सनातन सेतु है जो इन विविध स्तरों को परस्पर संबद्ध करता है। नये और व्यवहारतः विश्वसनीय तथ्यों का अनुसंधान करने वाली वैज्ञानिक बौद्धिकता से भिन्न, दार्शनिक बौद्धिकता समग्र ज्ञात तथ्यों में अंतर्निहित सिद्धान्तों को परिभाषित करती है। मूल्यों के क्षेत्र में भी यही बात देखी जा सकती है। एक ओर मूल्यों के अन्वेषण और अभिव्यक्ति संबंधी सृजन-परंपरा है तो दूसरी ओर उसकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निरपेक्ष मीमांसा की परंपरा है। प्रथम धर्म और साहित्य का विषय है तो द्वितीय दार्शनिक अनुशीलन का। इस तरह, दार्शनिक चिंतन तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति, मूल्याभिव्यक्ति और सैद्धान्तिक प्रत्ययन के तीन स्तरों पर आधारभूत प्राथमिक नियमों (फर्स्ट प्रिंसिपल्स) की गवेषणा करता है। वह संस्कृति की परंपरा में उसकी पारदर्शी बौद्धिकता के रूप में स्थापित होता है, जो उसमें समाये आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के तनाव को दूर कर उन्हें एकीकृत आत्म-भाव में समन्वित करता है।

इसी क्रम में संस्कृति के एक अन्य अंग (आयाम) भाषा पर भी दृष्टि डालना कम रोचक नहीं है। भाषा सांस्कृतिक व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। आधुनिक भाषा-अध्ययन से संस्कृति की कई रहस्यमय ऐतिहासिक वस्तुस्थितियों को समझने में सहायता मिलती है, जैसे यह कि इंडो-यूरोपियन भाषाएं सेमेटिक भाषाओं की तुलना में अधिक परिवर्तनशील रही हैं और इसका सीधा संबंध संबंधित जन-जातियों के जीवन में घटित अधिक या अल्प परिवर्तन से है। किसी भी संस्कृति में अंतर्निहित सामूहिक मनस् की संगठित संरचनात्मक विशेषता को भाषा एक संवेदनशील आइने की तरह अत्यधिक सामान्यीकृत रूप में प्रतिबिंबित करती है। अवश्य, भाषा की अपेक्षा कला में, साहित्य में भी, संस्कृति का प्रतिरूपण अधिक जीवंत संवेदनशीलता से होता है, क्योंकि कला व साहित्य में संवेदना कल्पनाशीलता से अतिरंजित होती है। संवेदना की ऐसी कल्पनाशील अतिरंजना जीवन-मूल्यों को अधिक स्पष्ट आकार और गतिशीलता प्रदान करती है।

सार कथ्य यह है कि धर्म-साधना या कला-साधना की तरह संस्कृति-साधना भी एक कम दुरूह कार्य नहीं है। संस्कृति का क्षेत्र देश-काल की सभी दिशाओं में मनुष्य के मानस-संस्कारों की अनंत शाखा-प्रशाखाओं के रूप में चतुर्दिक फैला हुआ है। एक दृष्टि से इसे धर्म-साधना या कला-साधना से भी अधिक कठिन साधना समझना चाहिए, क्योंकि संस्कृति न तो धर्म या कला की तरह उसके किसी एक आयाम में समेटी जा सकती है और न ही उनकी तरह संस्कृति के अवगमन का कोई एक निश्चित अभ्यास-क्रम है। पुनः, धर्म, कला जैसे रूपों को साधना-क्रम में जीवन में ही आत्मसात् किया जाता है, जबकि संस्कृति-साधना में उसमें भागीदार बनकर हम स्वयं संस्कृति में समाते हैं। संस्कृति-दर्शन चिंतक की चेतना का संस्कृति में स्नात निदर्शन है। स्वाभाविक ही है कि पांडेजी ने अपने संस्कृति-चिंतन में संस्कृति को अपनी चेतना की गहराई से छुआ है और बुद्धि की पूरी सूक्ष्मता और तार्किकता से उसे परखा और स्पष्ट किया है।

राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

२१३, सुंदर नगर, रायपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्ध प्रमाण-दर्शन, ले. अंबिकादत्त शर्मा, प्रकाशक विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, २००६, मू. ३५०/-

'बौद्ध प्रमाणदर्शन' यह प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक, चिन्तक एवं दर्शन-प्राध्यापक अम्बिकादत्त शर्मा की एक प्रौढ़ मौलिक हिन्दी दार्शनिक कृति है। हिन्दी में बौद्ध दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण विषय पर लिखी गयी यह कृति अनूठी कहलाने योग्य है। इस कृति में अम्बिकादत्त जी ने बौद्ध पुरस्कृत प्रमाण-सिद्धान्त से सम्बद्ध समस्याओं—जैसे प्रमेयाश्रित प्रमाण-द्वैविध्य, प्राप्यकारित्व, ज्ञान-स्वप्रकाशत्व, सारूप्य, क्षणभंग, आत्मख्याति, अनुमान तथा अपोह आदि—का विस्तृत तथा मूलग्राही विवेचन किया है। इन समस्याओं पर अंग्रेज़ी में भी, जिसमें बौद्ध दर्शन पर अनेक निबन्ध-प्रबन्ध लिखे गये हैं, कोई शोध प्रबन्ध लिखा नहीं गया है। एतदर्थ अम्बिकादत्त जी का यह शोध-प्रबन्ध एक अतीव सराहनीय प्रयास मानना होगा। लेकिन यह भी मानना होगा कि यह शोध-प्रबन्ध अधिकांश बौद्ध दर्शन के अध्येताओं के लिए कुछ दुरूह रहेगा। इस प्रबन्ध की भाषायी, शैलीगत तथा अनेक नये संस्कृत तथा पारिभाषिक शब्दों के प्रयोगों से निर्मित जटिलता के कारण प्रबन्धान्तर्गत नावीन्य पूर्ण विचारों का आकलन बौद्ध दर्शन के सामान्य जिज्ञासू कहाँ तक कर पाएंगे, यह नहीं कहा जा सकता। यदि अत्यन्त जटिल दार्शनिक विचारों को भी अंग्रेज़ी में सरल और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने में आयर, यूइंग, ब्रॉड, स्टेस, रसेल आदि आंग्ल दार्शनिक पूर्णतया सफल हुए हैं तो हिन्दी में इन विचारों को सरलतया प्रस्तुत करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। आशा है अपनी अगली दार्शनिक रचना में अम्बिकादत्त जी इस कठिनाई को प्रवेश नहीं करने देंगे। अब इस प्रबन्ध के अन्तरंग का सामान्य निरीक्षण करें। प्रथम, विख्यात दार्शनिक चिन्तक श्री यशदेव शल्य द्वारा लिखे इस प्रबन्ध के पुरोवाक् में उपस्थित किये गए उनके 'प्रमाणमीमांसा को नया आयाम' देने वाले विचारों की हम संक्षिप्त चर्चा करेंगे। चेतना तथा ज्ञान से सम्बद्ध पारम्परिक विचारों की विवेचना के प्रसंग में शल्य जी कहते हैं कि "ज्ञान को आत्मा का मूल धर्म मानना ज्ञान और आत्मा इन दोनों की भ्रान्त समझ का द्योतक है।" शल्य जी के विचारानुसार ज्ञान को चेतना का ही मूल धर्म समझना चाहिए। लेकिन यदि ज्ञान आत्मा का मूल धर्म न हो तो 'मैं जानता हूँ', 'मुझे जानकारी है' ऐसे सार्वजनीन प्रयोगों को ग़लत और 'मैं नहीं मेरी चेतना जानती है' इस प्रकार के अप्रयुक्त प्रयोगों को सही मानना होगा। इसी प्रकार 'मैं चेतन हूँ', 'मुझमें चेतना है' ऐसे प्रयोगों को बिल्कुल ग़लत ठहराना होगा। शल्य जी संवेदों को चेतना का धर्म मानते हैं। वास्तव में संवेद तथा उसके अनेकानेक विकसित रूप, इन सबका एक अविच्छिन्न प्रवाह होता है, ये चेतना के घटक ही माने जाने चाहिएं, उसके धर्म कदापि नहीं। आगे चलकर शल्य जी शंकर को शब्द-प्रमाण मात्र पुरस्कारक ठहरा कर प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की भ्रान्ति या निर्भ्रान्तता शंकर कैसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निर्धारित करेंगे, यह प्रश्न करते हैं जो विस्मयकारक है। शंकर जैसे शब्द को प्रमाण मानते हैं वैसे ही वे प्रत्यक्षानुमानादि को भी प्रमाण मानते हैं और इन प्रमाणों का प्रामाण्य उन्हीं निकषों से निर्धार्य समझते हैं जो न्यायादि दर्शनों को भी मान्य है। अन्ततोगत्वा ये प्रमाण और उनका प्रामाण्य ये सब व्यावहारिक हैं। इस सम्बन्ध में शंकराद्वैत और मीमांसा इनमें से एक सत्य है यह बात 'व्यवहारे भाट्टनय:' इस परम्परागत उक्ति से प्रमाणित है। इसी बात के आधार पर शंकर ने अपने भाष्य के तर्कपाद में बौद्धों के विज्ञानवाद और क्षणिकवाद का साभिनिवेश खण्डन किया है। उपनिषदन्तर्गत महावाक्यों की ब्रह्म-ज्ञानार्थ उपयुक्तता का विशेष समर्थन जो शंकर परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने किया है वह शाब्दापरोक्षवाद का समर्थन है, शब्द-प्रामाण्य का नहीं।

प्रमाणों के प्रामाण्य-निर्णयार्थ उनके अर्थक्रियाकारित्व का नि:संदिग्ध निश्चय अपेक्षित है, किन्तु स्वप्न में भी घटित होने वाले कृति-साफल्य के अनुभव सदृश अनुभव हुआ करते हैं, इस कारण नि:संदिग्ध प्रामाण्य-निश्चय सम्भव नहीं, ऐसी आशंका प्रमाण-प्रमेय व्यवहार के सम्बन्ध में शल्य जी ने उठायी है। व्यावहारिक भूमिका पर से यह शंका नहीं उठायी जा सकती। जागृति को स्वप्न की तुलना में निर्भ्रान्तता की कितनी भी पूर्वापेक्षाएँ हों, वे सब व्यवहार-मान्य होती हैं और वे स्वप्न को भ्रान्त ठहराती हैं। व्यवहारातिक्रामी भूमिका से ही जागृति को भ्रान्त और स्वप्न-सदृश ठहराया जा सकता है। शंकर ने बौद्धों को व्यवहार की व्यावहारिक सत्ता का अपवाद करने का ही मुख्यत: दोषी सिद्ध किया है।

इस मुद्दे की विस्तृत चर्चा के अन्त में निष्कर्ष के रूप में शल्य जी कहते हैं कि, "... प्रमाण ही परस्पर पोषक होकर प्रमेय के प्रापक बनते हैं ... विषयिता (प्रमाणों की) विषयता की उपलब्धि में बाधक नहीं होती बल्कि उसकी आधार होती है। *विषयता का निरपेक्ष तथता के रूप में अनुसंधान भ्रान्ति मात्र है* क्योंकि चेतना ज्ञान का धर्म है और चेतना अतिक्रमण कर, अपने से बाहर आकर किसी ज्ञेय तथता को नहीं जान सकती।" इस परिच्छेदांश में मेरे द्वारा अधो-रेखांकित वाक्य पूर्व वाक्य से कैसे संगत है, यह समझना कठिन है।

आगे पुन: शल्य जी कहते हैं कि "चेतना के इस आत्मविषयकरण को, जो प्रत्यङ्मुखता से सम्भव होता है, उसकी विषय-वृत्ति से मुक्ति भी कह सकते हैं ... जो उसे विषय-वृत्ति में आत्म-बहिष्कृत कर पारदर्शी द्रष्टृता से वंचित रखती है और विषय के स्वरूप को आवृत करती है, जो विषय-स्वरूप द्रष्टृता को ही गम्य हो सकता है ... आत्मगत पर का यह बहिष्कार चेतना के लिए ज्ञातृरूपेण पूर्ण पारदर्शिता का प्रापक होता है।"

इस परिच्छेदांश में भी आन्तरिक असंगति दिखाई देती है। प्रत्यङ्मुखता (या आत्म के स्वरूपावस्थान, योग मतानुसार) से सम्भव होने वाले तथाकथित (वास्तव नहीं क्योंकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मा अविषय है) आत्म-विषयकरण से आत्मा को पारदर्शी द्रष्टृता कैसे प्राप्त हो सकती है? शल्य जी का वास्तविक कथ्य यहाँ यह प्रतीत होता है कि सामान्य विषय-विषयी भावावस्था से मुक्त होने पर आत्मा विषयों के अतिक्रामी स्वरूप को यथावत् समझ पाता है। अद्वैत के शब्दों में मूलाविद्या से परिच्छिन्न जीवात्मा जब इस अविद्यात्मक उपाधि से मुक्त होता है तब वह साक्षी के रूप में विषय-विषयिभाव से पूर्णतया मुक्त होकर (अविषयी होते हुए) विषयों के अतिक्रामी यथार्थ स्वरूप का आकलन करता है।

इस प्रकार शल्य जी जिन ज्ञान-विधाओं को ज्ञान के विभिन्न आयाम कहते हैं और जिनके अनुसार अनेक प्रकार के प्रमेय तथा प्रमाण मानने की आवश्यकता वे प्रतिपादित करते हैं वे विधाएँ विकल्प-संवलित विषयों के विभिन्न प्रत्यक्षों की ही विधाएँ प्रतीत होती हैं। बौद्धों के अनुसार सभी विकल्प मनोनिर्मित और विषयारोपित होते हैं जबकि अन्य दार्शनिक इनमें से कुछ को मनोनिर्मित तो कुछ को वस्तुनिष्ठ बताते हैं। इन सभी विषयों का ज्ञान भ्रान्त या अभ्रान्त प्रत्यक्ष ही होगा।

अब प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तरंग का निरीक्षण करें। 'प्रथम प्रस्तावना' प्रकरण में बौद्ध दार्शनिक चिन्तन के नागार्जुनीय निःस्वभावतावाद से शुरू हुए इतिहास पर सरसरी दृष्टि डालते हुए दत्त जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दिङ्नाग से बौद्ध प्रमाण-मीमांसा का गौतमीय प्रमाण-मीमांसा प्रस्थान के समानान्तर प्रस्थान शुरू होता है। इसमें प्रमाण-भेद का नियामक प्रमेय-भेद को (मानद्वय मेयद्वयात्) माना गया है। वह निष्कर्ष स्थूल रूप से सही है लेकिन इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि न्याय ही नहीं अन्य सब आस्तिक दर्शन भी प्रमाण-विप्लव पुरस्कारक न होने के कारण बौद्धों के प्रमाण-प्रस्थान से अलग पड़ जाते हैं। ये सभी दर्शन सामान्य रूप से प्रमाण-संप्लव के पुरस्कारक हैं। इस सम्बन्ध में दत्त जी ने प्रमाण-मीमांसा पर प्रमेय-मीमांसा हावी होने की बात इस प्रकरण में सूचित कर एक अन्य प्रकरण में विस्तार से विचारित की है, वह अतीव महत्त्वपूर्ण है। गौतमीय न्याय के परवर्ती काल में नव्यन्याय की लक्षण एवं उसके परिष्कार को प्राधान्य देने वाली विश्लेषणात्मक विचार-पद्धति के रूप में विकास को देखते हुए यह मानना होगा कि नव्यन्याय ने प्रमाण-मीमांसा को बहुत कुछ प्रमेय-मीमांसा-निरपेक्ष बना दिया। इसी कारण नैयायिक अनियत पदार्थवादी कहे जाने लगे। सत्रहवीं सदी के मूर्धन्य तार्किक रघुनाथ शिरोमणि ने व्याप्ति-सिद्धान्त-लक्षण प्रकरण की अपनी दीधिति व्याख्या के अन्त में इस मत का उल्लेख "विषयता तत्त्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्व सम्बन्धत्वाद्यपि अतिरिक्ता एव पदार्था इति एकदेशिनः" इस वाक्य में स्पष्ट कर दिया है। व्याप्ति, पक्षता, अवयव, हेत्वाभास आदि अनुमान सम्बद्ध संप्रत्ययों के अन्यूनानातिरिक्त लक्षण निर्माणार्थ इन लक्षणों की परीक्षा आनुभविक के समान, अनानुभविक लक्ष्यों के द्वारा भी करने का नव्यनैयायिकों का अथक प्रयास देखते हुए यह मानना पड़ता है कि कम से कम न्याय ने प्रमाणमीमांसा को प्रमेय-निरपेक्ष ढंग से ही विकसित करने की चेष्टा की है। ऐसी प्रमाण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सीमांसा को पाश्चात्य अर्वाचीन तर्कशास्त्री लॉजिक ऑफ दि एम्प्टी यूनीवर्स इस सार्थक संज्ञा से निर्दिष्ट करते हैं। फिर भी पश्चिमी आकारिक तर्कशास्त्र के समान नव्यन्याय का तर्कशास्त्र पूर्णतया प्रमेय-मीमांसा-निरपेक्ष नहीं है। पदार्थवाद को तिलांजलि देना अनियत पदार्थवाद का लक्ष्य नहीं है। विविध संप्रत्ययों के जो भी लक्षण रचे जाएँ उनका उनके लक्ष्यों में समन्वय और अलक्ष्य से निवारण सम्भव होने पर ही उनकी उपयुक्तता नव्यन्याय में स्वीकार्य होती है

'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण-मीमांसा का उपोद्घात' शीर्षक दूसरे प्रकरण में दत्त जी उपर्युक्त समस्या की ही विस्तृत और उद्बोधक चर्चा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "जहाँ प्रमाण हमें अपने प्रातिस्विक रूप में प्राप्त होते हैं और उनका विश्लेषण तथा सामान्यीकरण करते हुए हम उनके लक्षण का निर्धारण करते हैं वहीं हम तात्त्विक कोटियों को भी अनुभव में अन्तर्निर्दिष्ट रूप से प्राप्त कर उनका भी विश्लेषण एवं सामान्यीकरण करते हुए उनके लक्ष्य निर्धारित कर सकते हैं।" इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में ऐक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रमाणों का द्वैविध्य (बौद्ध मतानुसार) भले ही प्रमेय-द्वैविध्य से निर्धारित हो, प्रमेयों के लक्षणों का निर्धारण प्रमेय-विषयक प्रमात्मक ज्ञान से ही हो सकता है और इस ज्ञान का साधन प्रमाण ही होगा। प्रमाण के लक्षण का निर्धारण प्रमेय नहीं कर सकता। प्रमाण के स्वरूप पर से ही उसके लक्षण की सत्यासत्यता ठहरायी जा सकती है। इस विषय की चर्चा के प्रसंग में दत्त जी सम्भवत: अनजाने ही दो एक ग़लत बातें कह गये हैं। एक बात यह है कि गंगेशोपाध्याय ने चतुर्दश लक्षणी प्रकरण में व्याप्ति के चौदह लक्षणों का प्रतिपादन तथा खण्डन किया है। वास्तव में यह खण्डन-मण्डन रघुनाथ शिरोमणि ने अपनी दीधिति व्याख्या में किया है। मूल तत्त्वचिन्तामणि में चौदह में से एक भी लक्षण का उल्लेख नहीं है। दूसरी ग़लत बात जो दत्त जी ने कही है वह व्याप्ति के लिए 'केवलान्वयी' इस विशेषण का प्रयोग है। हेतु केवलान्वयी होता है व्याप्ति नहीं। तीसरी ग़लत बात 'सर्वं अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं' इन शब्दों से 'सर्वं अभिधेयं ज्ञेयत्वात्' इस अनुमिति का निर्देश करना है। इस अनुमिति में वस्तु मात्र रूप पक्ष में अभिधेयत्व रूप साध्य का ज्ञेयत्व रूप हेतु से साधन किया जाता है, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व इन धर्मों का अभेद इस अनुमिति में साध्य नहीं हो सकता।

'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' इस शीर्षक के तीसरे प्रकरण में उक्त चर्चा को ही आगे बढ़ाते हुए दत्त जी यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि "क्या प्रमाण केवल पूर्वगृहीत तत्त्व-मीमांसा का ही बौद्धिक निदर्शन कराते हैं या कि उनका कार्य अन्वेषणात्मक ही है?" प्रश्न का उत्तर देते हुए दत्त जी कहते हैं कि "प्रमाण-मीमांसा एक अनुवीक्षा है, विषय अपनी सिद्धि के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते। उनकी विधि रूप सत्ता को प्रमाणापेक्षी नहीं कहा जा सकता। जो लोग प्रमाणों के द्वारा प्रमेय की सिद्धि करते हैं वे भी प्रमाण के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए प्रमेय के स्वरूपावधारण को पूर्वकल्पित करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसके बिना 'अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है', 'इन्द्रियों से सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से जाति का अलौकिक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है' इत्यादि बातें कैसे जानी जा सकती हैं?

इस कथन पर नैयायिक यह प्रतिवाद कर सकते हैं कि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इस वाक्य का अर्थ 'प्रमेय के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उसके अन्यूनानतिरिक्त लक्षण का सुस्पष्ट ज्ञान' ऐसा ग्रहण करना चाहिए। किसी प्रमेय का अस्फुट अस्तितानुभव उसकी सिद्धि नहीं माना जा सकता। अभाव का ही उदाहरण लें। जन-साधारण अभाव को पदार्थ नहीं मानते। लेकिन 'नहीं' जैसे अभाव-बोधक शब्दों का सभी लोग प्रयोग करते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि प्रयोगकर्त्ताओं को अभाव की पदार्थता का अस्फुट आभास है। इस आभास की सत्यासत्यता का निर्णय प्रमाण से ही किया जा सकता है। प्रत्यक्ष से पदार्थों की अस्तिता के समान उनकी नास्तिता का भी अनुभव होता है। इन दो प्रकार के अनुभवों में साम्य होने से अस्तिता को सत्य मानने पर नास्तिता को भी सत्य मानना पड़ता है। अब प्रश्न हो सकता है कि पदार्थों की नास्तिता को पदार्थों के अधिकरण स्वरूप ही क्यों न मान लिया जाए? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्यक्ष प्रमाण की मदद से ही दिया जा सकता है। उत्तर यह होगा कि पदार्थ की अस्तिता और नास्तिता इन दोनों स्थितियों में पदार्थ का अधिकरण एकसा ही बना रहता है और वैसा ही प्रत्यक्षगम्य होता है। यही नहीं, कोई भी अधिकरण अपने में ही वृत्तिमान् प्रतीत नहीं होता जबकि अभाव अधिकरण में वृत्तिमान् प्रतीत होता है। अत: अभाव की भावपदार्थातिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ती है। सत्ता के संसाधन के बाद अभाव का स्वरूप निर्धारण भी प्रत्यक्ष से ही करना होगा।

चौथे प्रकरण का शीर्षक 'प्रमेयाश्रित प्रमाण-द्वैविध्य' यह है। इसके अनुरूप इस प्रकरण में बौद्धों के 'मानद्वयं मेयद्वयात्' इस न्यायादिविरोधी सिद्धान्त की प्रमाणवार्तिक तथा वार्तिकालंकार जैसी व्याख्याओं में किये गए समर्थन की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। इस चर्चा के स्थूल रूप से दो प्रमुख विषय या समस्याएँ हैं। एक यह कि "प्रमाणों को और उनके भेद को जाने बिना प्रमेयों को उनके तथाकथित मौलिक भेद के साथ कैसे जाना जा सकता है?" दूसरा विचार्य विषय या समस्या यह है कि यदि प्रमेय स्व-लक्षण या सामान्य-लक्षण हो और पूर्णतया परस्पर भिन्न रूप हो तो उसके द्वैविध्य का कैसे ज्ञान होगा, जबकि प्रत्यक्ष केवल स्वलक्षण-ग्राही और अनुमान केवल समान्यलक्षण-ग्राही होता है?ऊपर ही यह विचार किया गया है कि प्रमाण की सहायता के बिना प्रमेय के वास्तविक स्वरूप का यथावत् निर्धारण करना समभव नहीं है। इस विचार का प्रतिवाद बौद्धों के 'द्वैराश्य-भेद' सिद्धान्त के द्वारा किया गया है। इस सिद्धान्त का सार यह है कि सार्वजनीन अनुभव में ही प्रमेय मात्र की द्विप्रकार परस्पर विरोधी वर्गणा निहित है। सभी प्रमेय शक्त-अशक्त, सदृश-असदृश, शब्दाविषय-शब्दविषय, निर्विकल्पक-सविकल्पक इन जैसी वर्गणाओं के परस्पर विरोधी घटक होकर ही सामान्यानुभव के विषय होते हैं। इन अनुभव-प्रदत्त भेदों के आधार पर ही प्रमाणों के द्वैविध्य का विचारपूर्वक निर्धारण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक लोग किया करते हैं। प्रमाण-मीमांसा अपनी सारी विशेषताओं के साथ सामान्य अनुभव-प्रदत्त प्रमेय-भेद का ही व्याकरण करती है।

अब प्रमाण-द्वैविध्य के ज्ञान का प्रश्न जो इस प्रकरण की चर्चा का दूसरा विषय है, उसका समाधान बौद्धों ने कैसे किया है, यह देखें। बौद्ध कहते हैं कि प्रमेयद्वैविध्य की उपस्थापक प्रतीतियाँ ज्ञान के धर्म हैं और ज्ञान स्वसंवेदक होने से ज्ञानगत द्वैविध्य का भी ग्रहण ज्ञान से ही हो जाता है। उसके लिए प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त तीसरे प्रमाण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं होती। इस समाधान का निचोड़ यह है कि प्रतिपत्ति-भेद ही प्रमाण-भेद है। यही विषय-भेद के रूप में प्रतिभासित होता है। प्रतिपत्ति की द्विविधता के कारण एक ही विषय स्वलक्षण और सामान्य लक्षण इन दो परस्पर विरोधी रूपों में प्रतिभासित होता है।

उक्त समस्या के प्रज्ञाकर गुप्त के दत्त जी द्वारा प्रस्तुत समाधान के विस्तृत स्पष्टीकरण को देखते हुए यह मानना होगा कि उन्होंने बौद्ध मत को अधिक से अधिक प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। किन्तु क्या इस मत की आन्तरिक सदोषता उक्त समाधान से निवृत्त हो जाती है? यदि द्वैराष्य भेद सामान्यानुभव में ही अन्तर्निहित हो तो उसकी प्रतीति जनसाधारण को होनी चाहिए। किन्तु क्या सामान्य जन कभी सामान्य लक्षण से अलग किसी सर्वतोव्यावृत्त क्षणभंगुर स्व-लक्षण को जानता है या किसी तरह समझाए जाने पर भी वह इस स्व-लक्षण को वस्तुसत् और सामान्य लक्षण को अवस्तुसत् या कल्पित मान पाता है? यदि ऐसी ही वस्तुस्थिति होती तो क्षणभंग सिद्ध करने के लिए रत्नकीर्ति जैसे बौद्ध पण्डितों को **क्षणभंग सिद्धि** जैसे ग्रन्थों की रचना क्यों करनी पड़ी, यह समझ में नहीं आता।

पाँचवाँ प्रकरण 'प्रमाण-संप्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था' यह है। उक्त समस्या को ही पुनः एक अन्य संदर्भ में उपस्थित करते हुए दत्त जी कहते हैं कि, "यदि स्वसंवेदन की ऐसी व्याख्या की जाए जहाँ स्वसामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की परमार्थ सत् और विकल्प सत् के रूप में संवित्ति सम्भव हो तो स्वसंवेदन के उस स्तर को बौद्धों की प्रमाण-मीमांसीय योजना में संगृहीत नहीं किया जा सकता है।" क्या यह इसलिए सम्भव नहीं कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष या परोक्ष नहीं है? ऐसी बात तो नहीं है, द्वैराश्य-भेद का ज्ञान ही स्वसंवेदक है। दत्त जी उक्त असम्भवता से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रमेय-द्वैविध्य को बुद्ध के द्वारा प्रकाशित मानना ही उपयुक्त है।

अब आगे बढ़ें। प्रमाण-संप्लववाद की त्रुटियाँ स्पष्ट करते हुए दत्त जी प्रत्यक्ष से होने वाले वस्तु के प्रातिस्विक रूप के ज्ञान को अनुमानजन्य वस्तुविषयक सामान्य ज्ञान से भिन्न बतलाते हैं। यह बात सही है। उद्योतकर ने ही यह बात स्पष्टतया कह दी है। किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि दोनों प्रमाणों की ज्ञेय वस्तु एक ही होती है। इससे किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाण की व्यर्थता नहीं सिद्ध होती, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान में वित्ति-भेद है। इस चर्चा के अन्त में जो बात दत्त जी कहते हैं (पृ. ८१-८२) वह बिल्कुल रहस्यमय है। वे कहते हैं, "इस अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति से बचने के लिए प्रमाणों के प्रमाण एवं भेद को विषयमूलक भेद नहीं मानकर प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद माना जा सकता है। वास्तव में नैयायिकों के लिए प्रमाणों का भेद प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद ही है।" इस परिच्छेदांश का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। इसके अनन्तर दत्त जी नैयायिकों के निराकार ज्ञानवाद को उनके प्रमाण-संप्लववाद का द्योतक जैसा कहते हैं। यह बात सही नहीं प्रतीत होती। निराकार होने से कोई भी ज्ञान वस्तु-विशेषग्राही या वस्तु-सामान्यग्राही नहीं हो जाएगा। निराकार प्रत्यक्ष ही वस्तु-विशेषग्राही और निराकार अनुमान ही वस्तु-सामान्यग्राही होगा। विशेष और सामान्य रूपों से अलग वस्तु मात्र ही दोनों प्रमाणों का सामान्य विषय समझी जा सकती है। अत: शुद्ध वस्तु के सम्बन्ध में संप्लव और उसके विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में विप्लव माना जा सकता है, जैसा कि उद्योतकर कहते हैं।

छठे 'प्रमाणान्तर्भाव' प्रकरण में प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इन प्रमाणों के स्वीकृति-अस्वीकृति के प्रश्न की बौद्ध दर्शन की भूमिका से चर्चा की गई है। आस्तिक दर्शन भी इन सभी प्रमाणों को स्वीकार नहीं करते, जैसे न्याय अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि को स्वतन्त्र/परतन्त्र प्रमाण नहीं मानता। वैशेषिक इनके साथ उपमान और शब्द को प्रमाण नहीं मानता। मीमांसा अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानता। लेकिन ये सब दर्शन इन प्रमाणों के स्वतन्त्र प्रामाण्य को ही अस्वीकार करते हैं जबकि बौद्ध इन प्रमाणों को प्रमाण ही नहीं मानते। अत: उनके लिए इन प्रमाणों को किसी भी प्रमाण में अन्तर्भूत करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इन प्रमाणों के प्रामाण्याभिरासक तर्कों की चर्चा जो बौद्धों ने की है उसे विस्तार से दत्त जी ने इस प्रकरण में प्रस्तुत किया है।

सातवें प्रकरण का विषय 'इन्द्रियों का विषय प्राप्यकारित्व' है जिस पर दत्त जी ने एक पूर्ण ग्रन्थ ही स्वलिखित दो लेखों के साथ सम्पादित किया है और इसकी मेरे द्वार लिखी विस्तृत समीक्षा उन्मीलन के पिछले अंक में प्रकाशित हुई। अत: इस प्रकरण के अन्तर्गत चर्चा की समीक्षा यहाँ अनावश्यक है।

अब 'ज्ञान की स्वयंप्रकाशता' इस विषय की चर्चा पर दृष्टिपात करें। "चेतन विषयों से सम्बद्ध होकर उन्हें प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करत है। विषय से असम्बद्ध स्थिति में पर-प्रकाशक न होने पर भी चेतना की स्वयंप्रकाशत बनी रहती है। लेकिन ऐसी विषय-रहित चेतना का आकार क्या होता है, यह बौद्धों क बताना होगा।" यदि दत्त जी के अनुसार यह बौद्ध-सम्मत बात है तो इसका स्पष्टीकरण उन्हें करना चाहिए था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मीमांसकश्रेष्ठ कुमारिल ने ज्ञान-स्वप्रकाशता के सिद्धान्त पर जो अनेकानेक आक्षेप किये हैं उनकी और शान्तरक्षित आदि बौद्ध पण्डितों ने इन आक्षेपों का जो प्रतिवाद किया है उनकी दत्त जी ने सम्यक्तया इस प्रकरण में चर्चा की है। नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद और मीमांसकों के ज्ञानतालिंगक ज्ञानानुमेयवाद एवं प्राभाकरमीमांसकों के पूर्ण अथवा आंशिक त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद इन तीन ज्ञान-स्वप्रकाशता-विरोधी सिद्धान्तों की भी विस्तार के साथ दत्त जी ने इस प्रकरण में चर्चा की है। इस चर्चा के निष्कर्ष के रूप में ज्ञान के स्व-संवेदन के त्रिविध प्रारूपों का दत्त जी ने जो उल्लेख किया है वह विशेषतया मननीय है। वे कहते हैं, "प्रथम विज्ञान इस अर्थ में स्व-संवित् होता है कि जब विषय का ज्ञान होता है तो प्रतिचेतना के रूप में विज्ञान को स्वयं की भी वित्ति होती है। यहाँ स्व-संवित्ति अर्थाभावपूर्वक स्वाभाव है। द्वितीय, विज्ञान इस अर्थ में स्व-संवित् होता है कि वह स्व-संवित् होकर ही विषय को प्रकाशित करता है। यहाँ स्व-संवित्ति स्वाभासपूर्वक अर्थाभास है। तृतीय, विज्ञान अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और अर्थाभासपूर्वक स्वाभास से पृथक् और परे अपने स्व-स्वरूप में ही अनात्मसंवित् है। यही स्व-संवेदन का निरपेक्ष स्वरूप है।" शान्तरक्षित की इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त अर्थपूर्ण उक्ति है जो दत्त जी ने इस संदर्भ में उद्धृत की है। उक्ति यह है—

स्वरूपवेदनादन्यत् वेदकं न व्यपेक्षते।
न चाविदत्तमस्तीदं इत्यर्थोऽयं स्व संविदः।।

प्रकरण के अन्त में ज्ञान-स्वप्रकाशता के स्वीकार से उत्पन्न होने वाली ज्ञान-मीमांसीय कठिनाइयों, जैसे ज्ञान बाह्य ज्ञान विषय की सत्ता-स्वीकार की आवश्यकता सिद्ध करने की भी संक्षेप में दत्त जी ने उद्बोधक चर्चा की है।

'सारूप्य की अवधारणा' यह नवाँ प्रकरण है जिसमें बौद्धों के ज्ञानगत विषय-सारूप्य-सिद्धान्त की व्यापक समीक्षात्मक चर्चा की गई है। इसमें प्रमाण तथा उसके विषय से सम्बद्ध जिन तथाकथित विभिन्न वादों का उल्लेख किया गया है वे वास्तव में विभिन्न नहीं हैं। जैसे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षवाद, सामग्रीकारणवाद, ज्ञातृव्यापारवाद ये विभिन्न नहीं हैं। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को जो प्रत्यक्ष का कारण मानते हैं वे आत्म मन:संयोग, इन्द्रिय मन:संयोग इन जैसे प्रत्यक्ष कारण सामग्री-घटक कारणों को भी प्रत्यक्ष कारण मानते ही हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय वृत्तिवाद अन्त:करण वृत्तिवाद से भिन्न नहीं है। हाँ, अद्वैत अन्त:करण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है जबकि सांख्य अन्त:करण घटक बुद्धि को ही प्रमाण मानता है। विषय-सारूप्यकरणतावाद इन सब वादों से बिल्कुल पृथक् है। इस वाद के अनुसार ज्ञान विषय का पररूप से प्रकाशक न होकर आत्मघटक विषयाकार का प्रतिभासक होता है। यह इन्द्रियसन्निकर्ष, विषय और ज्ञान इनकी सहभाविता, जिसे 'त्रिकसन्निपात' संज्ञा से निर्दिष्ट किया जाता है, घटित होता है। इस सारूप्य को दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्त्वाकार की उपमा दी गई है, जिसे दत्त जी अनुपयुक्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानते हैं। किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। वस्त्वाकार एक बिम्ब के रूप में ज्ञान के सम्मुख प्रस्तुत होने पर ही ज्ञान में यह आकार उभर सकता है। हाँ, इस आकार को विज्ञानवादियों के मतानुसार ज्ञान का आन्तरिक तत्त्व ही मान लिया जाए तो दूसरी बात है। वस्त्वाकार रूप बिम्ब का ज्ञान में जो प्रतिबिम्ब उभरता है वह ज्ञानगत विषय-सारूप्य है जिसके घटित होने पर विषय का ज्ञान होता है। इस सारूप्य को ज्ञान का कारण मानने से निराकार ज्ञानवाद की कुछ त्रुटियों का अपवारण हो जाता है। जैसे विभिन्न ज्ञान ज्ञान के रूप में बिल्कुल एक जैसे होने पर भी वे विभिन्न विषय विषयक हुआ करते हैं, इस तथ्य की संतोषजनक उपपत्ति ज्ञान-बिंबाकारतावाद नहीं दे पाता। विषय के साथ सरूपता होने के ही कारण एक विषय के साथ सरूपता रखने वाला ज्ञान अन्य विषय के साथ सरूपता नहीं रख सकता। यह सारूप्याधारित उपपत्ति ज्ञानों की विभिन्नता को स्पष्ट कर सकती है। किन्तु सारूप्य की अवधारणा में कुछ गम्भीर दोष हैं जिनकी अनदेखी नहीं की जा सकती। पहला दोष यह है कि ज्ञानगत विषय-सारूप्य ज्ञान का कारण है, यह बात कुछ अटपटी सी है। यह बात वैसी ही होगी जैसी यह बात कि घटगत उसका आकार घट का कारण है। वस्तुस्थिति के ठीक विपरीत यह बात है। जैसे घट अपने आकार का कारण है आकार घट का कारण नहीं, वैसे ही ज्ञानगत सारूप्य ज्ञान का कारण न होकर ज्ञान ही स्वगत विषय-सारूप्य का कारण होता है।

दूसरा दोष उक्त अवधारणा में यह है कि स्व-संविदित या प्रतिभासित सारूप्य, अथवा अधिक ठीक शब्दों में "सारूप्य का प्रतिभास ही, ज्ञान का, अर्थात् सारूप्य युक्त ज्ञान का, जो सारूप्य प्रतिभास से अन्य कुछ नहीं है, कारण है।" यह कथन "सारूप्य-प्रतिभास सारूप्य-प्रतिभास का कारण है" इस तरह की पुनरुक्ति रूप ही होगा।

एक तीसरा भी दोष, जो उक्त दोनों दोषों से अधिक गम्भीर है, सारूप्य की अवधारणा में दृग्गोचर होता है। वह यह है कि सारूप्य ज्ञान की विषय-सरूपता का धर्म है। इस कारण उसे प्रमाणभूत ज्ञानगत प्रामाण्य रूप धर्म मानने के बदले स्वयं प्रमाण मानना प्रमाण को ही स्वगत प्रामाण्य रूप मानने जैसा होगा। प्रमाण में प्रामाण्य-रूप धर्म विद्यमान होने से ही प्रमाण को प्रमाण माना जाता है। लेकिन इस कारण प्रामाण्य को ही प्रमाण नहीं समझा जाता।

'क्षण भंगुर बाह्यार्थ एवं आत्मख्याति' इस दसवें प्रकरण में वस्तु मात्र के क्षण भंगुरता सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में भ्रमात्मक ज्ञान की किस प्रकार के ख्यातिवाद के आधार पर उपपत्ति दी जा सकती है इस समस्या की प्रमुखता से चर्चा की गई है। चर्चा के प्रारम्भ में अनिर्वचनीय ख्याति का उल्लेख करते हुए दत्त जी कहते हैं कि "अनुभव की सीमा में कोई उपलब्धि या तो सत्य अथवा असत्य होगी, लेकिन भ्रमात्मक उपलब्धि प्रतीति और बाध-विषय होने से आत्मनिष्ठ क्रिया है और इसीलिए अनिर्वचनीय है।" क्या कोई भी उपलब्धि स्वयं अनिर्वचनीय कही जाएगी, जैसा दत्त जी कहते हैं और क्या वह अन्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपलब्धियों के समान ही आत्मनिष्ठ होने से अनिर्वचनीय कहलाएगी? उक्त वाक्य का तात्पर्य बिल्कुल अस्पष्ट है।

विज्ञानवादी बौद्ध भ्रान्ति का आत्मख्याति के द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं, लेकिन बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिक आदि बौद्ध क्षणिकवाद की पृष्ठभूमि में भ्रान्ति का स्पष्टीकरण आत्मख्याति के द्वारा कर सकते हैं या नहीं, इस प्रश्न को प्रकरण के अन्त में दत्त जी ने उपस्थित किया है। बाह्यार्थ क्षणिक होने पर भी उसकी भ्रान्ति साधिष्ठान होने से प्रथम दृष्ट्या वह अन्यथाख्याति रूप ही मानी जाएगी। लेकिन दत्त जी के अनुसार बौद्ध दृष्टि में क्षणिक वस्तु भ्रान्ति का निमित्त बन सकती है, लेकिन संदर्भ नहीं। वस्तु-क्षण के नितान्त क्षणिक होने से और उसके ज्ञान के सारूप्यवादी अभ्युपगम के चलते बाह्यार्थवादी बौद्धों का ख्याति-विचार आत्मख्याति से मेल खाता है। क्या क्षणिक बाह्यार्थ के भ्रम का निमित्त होने से भी अन्यथाख्याति नहीं बनती? उक्त प्रश्न का दत्त जी का उत्तर यह है कि "क्षण भंगुर सत् की व्यापक स्वीकृति के चलते इनकी ज्ञान-मीमांसा में आत्मनिष्ठता का जो आत्म ख्याति का आधार है, उसका प्रवेश हो ही जाता है।"

'अनुमानावतार और संदेहवादी पूर्वपक्ष' इस ग्यारहवें प्रकरण में अनुमान-प्रमाण विषयक बौद्ध मत का संदेह-निरासपूर्वक विस्तृत समर्थन तथा न्याय के तत्सम्बन्धी मत के साथ उसकी तुलना ये विषय प्रस्तुत किये गए हैं। बौद्धसम्मत व्याप्तिग्रह-विरोधी कुछ आक्षेपों का निवारण करते हुए दत्त जी कहते हैं कि, "बौद्ध नैयायिकों द्वारा अन्तर्व्याप्ति का समर्थन तथा तादात्म्य और तदुत्पत्तिपूर्वक व्याप्ति का निश्चय सहचार- दर्शन एवं व्यभिचारादर्शन का मुखापेक्षी नहीं है।" क्या यह कथन सही है? तादात्म्यमूलक व्याप्ति-बोध को, जिसे व्याप्ति-बोध मानने पर आपत्ति उठायी जा सकती है, व्यभिचारादर्शन का मुखापेक्षी न भी मान लिया जाए तो भी तदुत्पत्तिमूलक व्याप्ति-बोध को ऐसा कैसे माना जा सकता है? क्या त्रिकारणी या पंचकारणी से भी भिन्न वस्तुओं के नियत अनिवार्य सम्बन्ध के रूप में उनके कार्य-कारण भाव को सहचारदर्शन-सहकृत व्यभिचारादर्शन के बिना सामान्यतया भी सिद्ध समझा जा सकता है? बौद्धों की अन्तर्व्याप्ति हो या न्याय की बहिर्व्याप्ति इन दोनों की अवस्था बिल्कुल एक जैसी ही है। दोनों का पूर्ण निश्चयात्मक ज्ञान सामान्य लक्षण जैसे अलौकिक प्रत्यक्ष के बिना सम्भव मानना तर्कसंगत नहीं होगा। व्यभिचारादर्शन-सहकृत सामान्य लक्षण-जन्य साध्य-साहचर्य प्रत्यक्ष ही हेतु की साध्य व्याप्ति की सिद्धि में सहायक हो सकता है।

पृष्ठ १७२ पर दत्त जी न्याय के सम्बन्ध मात्र की बाह्यता के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए एक विचित्र वाक्य का प्रयोग करते हैं। वाक्य इस प्रकार है "अभिधेयत्वं ज्ञेयत्व पदार्थत्वम्' के निकष पर दो वस्तुओं का सम्बन्ध भी उतना ही यथार्थ होता है जितने कि दोनों सम्बन्धी यथार्थ होते हैं।" इस वाक्य में सम्बन्धों की बाह्यता के किस प्रकार के निकष को सूचित किया गया है? क्या अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व और पदार्थत्व इन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभिन्न धर्मों का अभेद सूचित कर उस पर आधारित किसी प्रकार की बाह्यता का निकष दत्त जी को अभिप्रेत है? लेकिन उक्त तीन धर्म विश्वव्यापी होने पर भी एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। इन धर्मों के भेद पर भी बाह्यता का कोई निकष आधारित नहीं हो सकता।

बारहवाँ और अन्तिम प्रकरण 'अर्थाभिधान की अपोहात्मक संकल्पना' यह है जिसमें अपोहवाद की मूलगामी चर्चा की गई है। प्रारम्भ में दत्त जी अपोहवाद के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह वाद "क्षणिकवादी तत्त्व दृष्टि का भाषा दर्शन है। ... भाषा के द्वारा तत्त्व के संश्लेषित और विकल्पात्मक स्वरूप का ही विन्यास होता है। ... हमारी बुद्धि में अर्थ का जैसा प्रतिबिम्बन होता है शब्द उसी का ग्रहण करते हैं। ... वक्ता के अभिप्राय मात्र का निवेदन शब्द है। ... अपोहात्मक निवेदन का तात्पर्य यह है कि शब्द अपने अर्थ को विरुद्ध के प्रतिषेधपूर्वक व्यक्त करता है। ... बौद्धों की विचार-सरणी में बाह्य घट-पटादि अर्थ इसी आशय में अपोहात्मक हैं कि उनका अपोहात्मक ज्ञान से पृथक् कोई स्वत्व नहीं है। ... सामान्य अनुभव में जो कुछ गृहीत होता है वह अपोहित होकर ही सामान्य अनुभव का ज्ञेय विषय होता है। ... (उदाहरणार्थ) आनुभविक रूप में सभी गाएँ एक-दूसरी से भिन्न हैं, फिर भी उनमें एक अतद् व्यावृत्ति रूप व्यापक समानता के कारण 'गोत्व सामान्य' या जाति की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है, जो सभी गो-व्यक्तियों को व्याप्त करती है। ... जिनमें ... एकार्थ क्रिया कारित्व की प्रतीति होती है। बौद्धेतर दार्शनिक इस अतद्-व्यावृत्ति रूप से आकारित होने वाले समानता के सम्प्रत्ययों को सामान्य ... में रूपान्तरित कर देते हैं, जो नित्य और भाव रूप से अनेक व्यक्तियों में एक ही साथ अपनी सम्पूर्णता में अनुगत रहते हुए उन सभी व्यक्तियों से पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।"

ये आंशिक उद्धरण दत्त जी के अपोह विषयक स्पष्टीकरण को इस सम्प्रत्यय की सारी विशेषताओं के साथ अच्छी तरह उपस्थित करते हैं। अपोहवाद के सम्बन्ध में न्याय की भूमिका पर से दो प्रश्न विचारणीय हैं। एक यह कि यदि शब्द में कोई प्रमाण है तो वह वास्तविक अर्थ से (वह कुछ भी हो) सम्बन्ध रखता है। तब अतद्-व्यावृत्ति को शब्दार्थ मानने का क्या तुक है? शब्द नाम जात्यादि विकल्पों का निर्माण कर उन्हें स्वलक्षण रूप अर्थ पर आरोपित कर उसे सामान्य लक्षण रूप में व्यवहारार्थ प्रस्तुत करता है, यह कहा जा सकता है, लेकिन जब शब्द प्रमाण ही नहीं है तो उसके इस अनपेक्षित व्यापार की व्यवहारार्थ भी अपेक्षा क्यों होती है? 'अतद् व्यावृत्ति' को स्वलक्षण का ही स्वरूप बौद्ध मानते हैं और शब्द अतद् व्यावृत्ति के माध्यम से ही स्वलक्षण से सम्बन्ध प्रस्थापित करता है, ऐसा बौद्ध कहते हैं। यदि ऐसी वस्तुस्थिति है तो शब्द अर्थवाही या अर्थसम्बद्ध नहीं होता, यह कैसे कहा जा सकता है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्धेतर मतों में प्रत्येक वस्तु का अपना स्वतन्त्र विध्यात्मक स्वरूप होता है, जिसके होते उसमें अतद् व्यावृत्ति अपने आप घटित हो जाती है। बौद्ध अतद् व्यावृत्ति को वस्तुओं के स्वाभाविक स्वरूप का स्थान देते हैं और उसके 'स्वलक्षण' घटक स्व-स्वरूप को एक तरह से मिटा देते हैं। वे भूल जाते हैं कि कोई भी वस्तु स्वत्व युक्त होने पर ही अन्य की व्यावर्तक बन सकती है अन्यथा नहीं। यदि वस्तु-सत् सब प्रकार से निर्विरोध है तो उसे अतद् व्यावृत्ति की आवश्यकता क्यों होती है? क्या इस निर्विशेषता का ही स्वरूप अतद् व्यावृत्ति है? यदि यही बात है तो 'अंतर्गडु' शब्द को स्वलक्षण और अतद् व्यावृत्ति इनमें सम्बन्ध स्थापित करने का कारण मानने की क्या ज़रूरत है?

दूसरा अपोह सम्बन्धी प्रश्न उसकी सामान्यरूपता से सम्बद्ध है। स्वलक्षण में आरोपित सामान्य अन्यापोह मात्र है और अभाव रूप होने से वह वस्तुसत् नहीं, ऐसा बौद्ध कहते हैं। इस अपोह या अतद् व्यावृत्ति में 'अतद्' का क्या अर्थ है? 'तद्भिन्न' यह यदि अतद् का अर्थ हो तो तद्भिन्न में 'तत्' क्या होगा? तत् यदि स्वलक्षण वस्तु विशेष है तो तत् सदृश अन्य सब स्वलक्षण तद्भिन्न होंगे। जैसे एक घट व्यक्ति से भिन्न पटादि ही नहीं अन्य सब घट-व्यक्ति भी तद्भिन्न होंगे, क्या इन सब का व्यावर्तन घटत्व रूप विकल्प कर पाएगा? घटत्व तो सब घटों से अन्य का ही व्यावर्तन करेगा। लेकिन 'सब घटों से अन्य' का संग्रह करने के लिए घटत्व सामान्य को इस अन्य के स्वरूप निर्धारणार्थ अतद् व्यावृत्ति सम्प्रत्यय में समाविष्ट करना होगा, जिससे सामान्य के अपसारणार्थ भी सामान्य का उपयोग करना अनिवार्य हो जाएगा।

जैसा कि इस समीक्षा के प्रारम्भ में ही उल्लिखित है, अम्बिका दत्त जी की यह कृति अनूठी है। इसमें दत्त जी का चतुरस्र पाण्डित्य प्रत्येक प्रकरण में प्रकट होता है। कुछ सामान्य, त्रुटियाँ जिनका निर्देश किया गया है, इस कृति में अवश्य हैं किन्तु उनके रहते भी यह कृति परिश्रमी अध्येताओं के लिए, और उन्हीं के लिए, पठनीय है। आशा है अपनी अगली रचनाओं को अधिक सुलभ बनाने का दत्त जी प्रयास करेंगे।

नारायण शास्त्री द्राविड़
ऑकलैण्ड (न्यूज़ीलैण्ड)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	:	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म-संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
4.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
5.	तत्त्व-चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	काव्य-विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
7.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai